गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
की

वेद एवं विज्ञान से सम्बद्ध
शोध प्रयोजनाओं का
कार्यवृत
1994

30.	The Nature of Reality According to Science and Philosophy:	Gurukula, Magazine National Seminar. Feb. March- 1990	Dr. S. Shashidharan	,, ,,	83
31.	Vedic Nosology and	Gurukula, Magazin 'Monthly Research July, Aug, Sept- 1989 .	Dr. Inder Dev Khosla	,, ,,	90
32.	वैदिक सोम का महत्व	गुरूकुल पत्रिका "मासिक शोध पत्रिका" अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर - 1993	डा० सत्यदेव निगमालंकार	शोध - पत्र	98
34.	वेदों में कुण्डलिनी शक्ति	गुरूकुल पत्रिका "मासिक शोध पत्रिका" अप्रैल-मई- 1990	डा० बृजबाला भक्त	,, ,,	102
35.	वैदिकवनस्पतिः सोमः	,, ,, ,, ,, ,,	डा० बलवीर आचार्यः	,, ,,	103

तालिका–७

परिवार/गाँव की प्राथमिक आवश्यकतायें—

क्र० सं०	परिवार/गांव की प्राथमिक आवश्यकतायें	परिवारों की संख्या	%
१.	अस्पताल	३८	४०.८६
२.	विद्यालय	१०	१०.७५
३.	बिजली	१०	१०.७५
४.	पानी की व्यवस्था	६	६.४५
५.	सड़क (पक्की)	४	४.३०
६.	बस स्टैण्ड	८	८.६०
७.	भूमि मकान (हेतु)	५	५.३७
८.	पक्के मकान	५	५.३१
९.	जंगली जानवरों से सुरक्षा	४	४.३०
१०.	रोजगार	४	३.२२

गांव में सर्वेक्षण किये गये परिवारों की कुल संख्या – ९३
गांव में सर्वेक्षण किये गये परिवारों की कुल जनसंख्या – ४८७

आभार

ग्राम कांगड़ी का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण, पर्यावरण एवं वन विभाग भारत सरकार द्वारा स्वीकृत योजना के अन्तर्गत किया गया, जिसके लिए हम उनका हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

—

वेदों के मन्त्रों में आन्तरिक रूपता तथा बाह्यरूपता

—डॉ० लेखा

निम्न प्रकार की बाह्यरूपतायें मिलती हैं।

(१) मन्त्रों के चरणों में चरणों की संख्या विविध होती है। उदाहरण के तौर पर गायत्री में पादों की संख्या तीन होती है। और अनुष्टुपों में यह संख्या चार होती है। दोनों के चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं।

गायत्री का उदाहरण—

अग्निमीडे पुरोहितम्, यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

मन्त्र में तीन पाद हैं। प्रत्येक पाद आठ अक्षरों से बना हुआ है।

अनुष्टुप् का उदाहरण—

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मागृधः कस्यस्वित् धनम्॥

यह मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में है। इसके चार पाद हैं। प्रत्येक पाद हैं। प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर हैं। अतः पादों की संख्या में विविधता है।

(२) मन्त्रों के चरणों में अक्षर संख्याओं की विविधता।

उष्णिक् में तीन पाद होते हैं। इन तीन पादों में दो पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं और एक पाद बारह अक्षरों का होता है।

मण्डल ६, सूक्त = १०२, ऋग्वेद। मन्त्र १ उष्णिक्—

काणाशिशुर्महीनाम्, हिन्वन् ऋतस्य दीधितिम्।
विश्वा परिप्रिया भुवत् अधद्विता॥

पहले दो चरण (काणादि और हिन्वनादि) आठ-आठ अक्षरों के हैं। तीसरा चरण विश्वादि वाला बारह अक्षरों का है। मन्त्र में कुल अक्षर ८+८+१२=२८ हैं। मन्त्र उष्णिक् छन्द में है)।

मन्त्र के सब चरण एक समान अक्षरों वाले नहीं है, इसलिये इसके पादों में अक्षर संख्या की विविधता है।

(३) क्रम विविधता – इन चरणों के क्रम में भी विविधता मिलती है। उदाहरण के लिये उष्णिक् को ही ले लीजिये। कभी तो ये १२ अक्षरों वाला चरण पहला होता है। कभी दूसरा और कभी तीसरा। इस क्रम विविधता से मन्त्र के छन्द के नाम में प्रायः परिवर्तन देखा जाता है। यथा पुरस्तात् उष्णिक्। मध्य-उष्णिक और परस्तात् उष्णिक्। यह क्रम विविधता है।

(४) त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्द ११ अक्षरों के होते हैं। ये ११ अक्षरों के त्रिष्टुप् वेदों में १२० ही होते हैं। संख्यान प्रत्यय के अनुसार ११ अक्षरों के कुल चरण २११ = २०४८ होते हैं। पर वेदों में ये केवल १२० ही पाये जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वेदों का त्रिष्टुप् केवल १२० प्रकार का होता है।

मन्त्रों में ये चरण आपस में मिले जुले हुए होते हैं। इसे मिश्र चरणता का नाम दिया गया है। उदाहरण—

हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे
। S । S S । । S । S S
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
S S । S S । । S । S S
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्
। S S । । । S S । S S

इन उपरोक्त चारों चरणों में कोई चरण किसी के साथ नहीं मिलता है। चारों के लघु-गुरु भिन्न-२ है। पहला चरण उपेन्द्र वज्रा छन्द का है। दूसरा चरण इन्द्र वज्रा छन्द का है। ये दोनों चरण भागणी मध्यालय वाले अगला (तीसरा) चरण सरगणी मध्यालय वाला है। और चौथा चरण नागणी मध्यालय से बना हुआ है। मध्यालय पहिले चार अक्षरों के बाद आती है।

यद्यपि ये चारों चरण त्रिष्टुप् के हैं पर तो भी भिन्न-भिन्न त्रिष्टुपों के हैं। लयें सबकी भिन्न-भिन्न है। अतः इस मन्त्र में त्रिष्टुप् अन्तर्वती मिश्रालयी पर दिया है।

यह विविधता आन्तरिक स्वरूप की विविधता है।

(५) छन्द श्रेणी की लयों की विविधता—भी देखने में आती है।

त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्दों के चरणों में जगती श्रेणी के छन्दों के चरण मिले हुए होते हैं। त्रिष्टुप् और जगती. दोनों छन्दों की अलग-अलग श्रेणियाँ है। पर इन दोनों श्रेणियों के चरण मिले हुए एक ही मन्त्र में पाये जाते हैं। उदाहरण (श्रेणी मिश्रता)—

य प्राणतो निमिषतोमहित्वा
S S I S I I I S I S S
एक इद् राजा जगतो बभूव
S I S S S I I S I S S
य ईशे अस्य द्विपदश्चतु स्वतः
I S S S S I I S I S I S
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
S S· S S I I I S I S I

इस मन्त्र के तीन चरण तो त्रिष्टुप् के हैं। पर य ईशे वाला चरण जगत का है। अक्षरों की संख्या से तो आप यही कहेंगे कि मन्त्र के तीसरे चरण में एक अक्षर की अधिकता होने से यह चरण भुरिक् है। पर वास्तविकता यह है कि यह मन्त्र त्रिष्टुप् और जगती छन्दों की मिश्रपादिता का उदाहरण है। यह तीसरा चरण जगती श्रेणी का है इस बात का हमें चरण की अन्त्यालय से एकदम पता लग जाता है। यह लय रलगा (S I S I S) लय है। रेखाङ्कित कर दी गई है। अन्य चरणान्तों यह लय नहीं है।

वेदों के मन्त्रों में (प्राय:) तीन प्रकार के श्रेणी छन्दों के चरण पाये जाते हैं। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के। और ये तीनों प्रकार के चरण मन्त्रों के नाना रूपों में मिले हुए मिलते हैं। प्राय: सभी रूपों में मिले हुये मिलते हैं वैदिक अनुष्टुभों, वैदिक त्रिष्टुभों और वैदिक जगतियों की आन्तरिक लयें (आद्या और मध्या) एक समान होती हैं। इसलिये इनका सम्मिलन करने से गाने में कोई अड़चन नहीं आती है।

(६) वेद मन्त्रों में अपूर्णपाद भी पाये जाते हैं। ये मन्त्रों में डाले हुए मिलते हैं। इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

पहला उदाहरण : 'सपर्यगाच्छुक्रमकाय' मन्त्र में जो कि यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में आता है। अपूर्णपाद मिलता है। रेखांकित भाग मन्त्र में एक अपूर्णपाद है।

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
सपर्यगाच्छु क्रम कायम व्रणम्

यह जगती श्रेणी का वंशस्थ चरण है।

अस्नाविरशुद्धम पाप विद्धम्
ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ

यह त्रिष्टुप् का इन्द्र व श्री चरण है।

कविर्मनी षी परिभू: स्वयम्भू
। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ

यह त्रिष्टुप् श्रेणी का उपेन्द्र व श्री चरण है।

याथात थ्यतो अर्थान्
ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ

अपूर्ण पाद है। "तो" को द्रवता दूर करने के नियमों के अनुसार लघु अङ्कित किया गा है। यह याथादि चरण एक अपूर्व पाद है। इस अपूर्वपाद में लघु + तगण + और यगण आये हैं।

व्यदधात् शाश्वतीभ्य: समाभ्य:
। । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

इस चरण पर से द्रवता का परदा हटा दें। इस चरण को निम्न प्रकार का बनालें।

व्यदधात् शा शु + अ तीभ्य: समाभ्य:
।, । ऽ ऽ, । । ऽ, ऽ । ऽ ऽ

निष्कर्ष— १. इस मन्त्र में मिश्र चरणता है तीन त्रिष्टुपी चरणों का सम्मिलन है।

२. इस मन्त्र में श्रेणी मिश्रता भी है। दो श्रेणियां जगती और त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्दों के चरणों का सम्मिलन है।

३. इस मन्त्र में सम्पूर्ण पादिता भी है। एक अपूर्व पाद डला हुआ है।

दूसरा उदाहरण—प्रस्तुत करते हैं—

स्तुता मया वरदा वेद माता
। ऽ । ऽ । । ऽ ऽ । ऽ ऽ त्रिष्टुप चरण है।

प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्
।, ऽ, । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

यह १२ अक्षरों का चरण है। पर जगती का नहीं है। त्रिष्टुप् का है। इस बात का निर्णय इस चरण की लयें करती हैं। इसलिए आदि का 'प्र' बढ़ा हुआ है। सो यह चरण भरिक्—त्रिष्टुपी चरण है।

S S S S I S,
आयुः प्राण प्रजा (मगण + रगण)

यह अपूर्ण पादी चरण है। इसके बाद है—

पशुकीर्तिद्रविणं ब्रह्म वर्चसम्।
I S S S, I I S, S I S I S

यह जगती का चरण है। यह ३४ बातों की लय वाला जगती छन्द का चरण है। मध्यालय सग की है और अन्त्यालय रलगा है--

मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।
S S S S I I I S I S S

यह त्रिष्टुपी चरण हैं। मध्यालय नगण की है।

निष्कर्ष—[१] इस मन्त्र में मिश्र चरण का है। तीन त्रिष्टुपी चरण है तीनों भिन्न-भिन्न लयों वाले हैं।

[२] इस मन्त्र में श्रेणी जगती श्रेणी के चरणों का मेल करवाया गया है। ब्रह्मवर्चसम् वाला चरण जगती श्रेणी का है। रलगा (S I S, I, S I) लय में समाप्त होता है।

[३] अपूर्ण पादिका की है।

(७) सूक्तों में भिन्न-२ श्रेणी के मन्त्रों की मिश्र मन्त्रिता भी मिलती है। इसका अर्थ यह है कि एक ही सूक्त में अगर सब छन्द जगती के चल रहे हैं तो सूक्त के अन्त के भाग में जगती मन्त्रों का मेल त्रिष्टुपी मन्त्रों के साथ करवा दिया जाता है। उदाहरणार्थ--ऋग्वेद के ९ वें मण्डल के ६८ वें सूक्त को देखें। इसमें ९ मन्त्र तो जगती श्रेणी के हैं। पर दसवां मन्त्र त्रिष्टुप् श्रेणी का है। इस प्रकार इस सूक्त में मैं दो भिन्न-२ श्रेणियों के मन्त्रों का मिश्रण किया गया है। अर्थात् जगती छन्दों का त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्द के साथ त्रिष्टुपी मन्त्र जागती सूक्तों में प्रायः अन्त में पाया जाता है।

(८) मण्डलों में मिश्र–सुक्तितायें भी मिलती हैं।

(९) प्रगाथ छन्दों के मन्त्र भी मिलते हैं। दो भिन्न-२ छन्दों वाले मन्त्रों को मिलाकर एक नया मन्त्र बना लिया जाता है तो उसे प्रगाथ छन्द का मन्त्र

कहते हैं। उदाहरण के तौर पर सतोबृहती छन्द को किसी और छन्द के साथ मिलाकर नया छन्द बना लिया जाये तो वह प्रगाथ होगा। प्रगाथ मन्त्र दो भिन्न-२ प्रकार के छन्दों वाले मन्त्रों के मेल से बना हुआ होता है।

किसी मन्त्र को निचृत्, भुरिक्, स्वराट् व विराट् नामक न्यूनाधिकता वाला छन्द पुकारने से पहले उस मन्त्र पर से भाषा की प्रवृता का परदा हटा कर निचृत आदि न्यूनाधिकताओं का निर्णय करना चाहिये। ऐसा करने से मन्त्रों के करीबन ८० प्रतिशत चरण इन न्यूनाधिकताओं से रहित हो जाते हैं।

मन्त्रों की लयों से हमें यह निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है कि मन्त्र का छन्द किस श्रेणी का है या किस प्रकार के चरणों से बना हुआ है।

सूक्तों पर जो निचृत् या भुरिक् प्रभृति शब्द मन्त्रों के सम्बन्ध में लिखे हुये होते हैं उन्हें प्रायः विचार पूर्वक नहीं लिखा हुआ होता।

निष्कर्ष—[१] जहां लयें भिन्न-भिन्न होती हैं वहां वह भिन्नता का आन्तरिक रूपता की भिन्नता समझनी चाहिए।

[२] जहां केवल अक्षरों, चरणों, मन्त्रों और सूक्तों का मेल करवाया जाता है उसे बाह्य रूपता की विविधता समझनी चाहिए।

[३] उपर्युक्त सब प्रकार की भिन्न-रूपताओं के मिश्रणों से बने हुये मन्त्र भी मिलते हैं।

मन्त्रों के स्वरूपों को समझने के लिए हमें भिन्न-२ दृष्टियों से उन्हें देखना चाहिए।

१. बाह्य रूप कैसा है ?
२. आन्तरिक रूप कैसा है ?
३. उनका मिश्रण कैसा है ?

मन्त्रों के रूपों को देखने के लिए मन्त्रों पर पड़ा वैदिक भाषा की द्रवता का परदा हटाकर मन्त्रों के स्वरूप का दर्शन करना चाहिए।

जब हम पादपूरणों और मन्त्रों की न्यूनाधिकताओं पर विचार करेंगे तो उस समय भाषा के परदे को हटाने विधि पाठकों को सूचित कर देंगे।

अद्यतन भारते संस्कृतस्य उपयोगिता

श्री बटुक तिवारी
साहित्याचार्यः सम्पूर्णानन्द सं०वि० वाराणसी

संस्कृत भाशायां ईदृशः कश्चित् गन्धविशेषो विद्यते येन आमोदिता निखिलापि समग्रा भारतीया संस्कृतिः अपूर्वं कश्चित् आमोद विस्तारयति । प्राक्तनकाले भारतराष्ट्रं लघुतरेषु बहुषु खण्डेषु विभक्तमासीत् । राजानः भिन्ना आसन् तथापि अस्याः भाषायाः इदं माहात्म्यम् आसीत् यत् तेषु वैविध्येष्वपि अपूर्वा काचिदासीत् समग्रता ! अद्यापि दृश्यते यत् सीमाप्रदेशेषु राज्यशासनं विभक्तं तिष्ठति, परन्तु भाषायाः सामीप्यं सादृश्यं वा उभयोरपि प्रान्तवर्तिनोः जनसमूहयोः वहुतरं सौमनस्यं प्रतिष्ठापयति । संस्कृतेरैक्यं महती बन्धुत्वभावनां मुखरीकरोति ।

भारतीय संस्कृतेर्मूलभाषा संस्कृतं विद्यते । देशद्रोहभावनया वदतु नाम कश्चित् संस्कृतस्य विपरीतं, परन्तु ये राष्ट्रीय स्निह्यन्ति भारतीय संस्कृतये स्पृहयन्ति, भारतीय समृद्धये दत्तावधानाः सन्तिः. ते सर्वे संस्कृताय विपरीतं न वदन्ति । इयं सा भाषा या विखण्डितापि अखण्डार्थं बोधयति । यस्याः प्रत्ययाः प्रकृतयः स्वराः अमेपि कश्चित अर्थविशेषं प्रतिपादयन्ति । यस्याः शब्देषु जातिवाचकानां गुणवाचकानां क्रियावाचकानां च शब्दानां साधर्म्यं विद्यते । यदृच्छावाचकानां शब्दानाम् अन्तिमं स्थानं विद्यते । यदीयाः शब्दा गौरवमयं भारतीयम् अतीतं बोधयन्ति । प्रसूतां भौगोलिकीं स्थिति संकेतयन्ति । यदीयाः भावविशेषाः विकीर्णानि जनमनांसि मधुरं ग्रथ्नन्ति । यत्रत्याः स्वरविशेषाः चमत्काराञ्चितां रमणीयतां कञ्चित् निरवरोधं धारयन्ति । सा भाषा अद्यतन भारते नूनं कस्मैश्चत् लोकोत्तर-कल्याणाय भूयसे, क्षेमाय च विद्यते इत्यत्र न कश्चन संदेहः ।

अद्यतन भारतस्य का स्थितिः यदि कश्चित् पृच्छति; का राष्ट्रभाषा अस्य देशस्य ? तदा उच्यते हिन्दी इति; किमियं हिन्दी ऊरीक्रियते समग्रेण देशेन वा किमिय राष्ट्रभाषात्वेन वर्तते कार्यान्विता? उत्तरमस्ति नितरां निषेधम् ।

गुरुकुल - पत्रिका

अप्रैल - मई - १९८६

वेद में योग विद्या

श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, शास्त्री, देहली

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये ।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥

ऋग्वेद-८ मण्डल, ११ सूक्त, ६ मन्त्र

भाव:—मेधाबुद्धि सम्पन्न मरणधर्मा उपासक जीवात्मा हम, प्रापणीय ज्ञान स्वरूप हृदयस्थ अ+उ+म रूप परमेश्वर को अपनी रक्षा तथा विज्ञानोपलब्धि के लिये वेद मन्त्र स्तुतियों के द्वारा प्राणों में आह्वान करते हैं ॥

ब्रह्म की प्राप्ति कैसे और कहां होती है

महर्षिदयानन्द सरस्वती स्वरचित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में मुण्डकोपनिषद् १.२.११ के भावार्थ में लिखते हैं—

(क) "(तप: श्रद्धे) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म को छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्यादि कर्म करके संन्यास वा अन्य किसी आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राण द्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य मे प्रवेश करके (विरजा:) अर्थात् सब दोषों से छूट के, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सबसे सूक्ष्म (अमृत:) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं। जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें।'

(ख) 'अथ (यदिद०) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् ब्रह्म का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्व शक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् ८.१.१"

ख—भाग में ऋषि दयानन्द स्पष्ट लिखते हैं कि 'वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है।' इस वचन से सिद्ध है कि महर्षि परमात्मा का साक्षात् कर चुके थे, यदि ऐसा प्रत्यक्ष न होता तो वह यह लिखते कि 'ईश्वर मिल सकता है' परन्तु ऋषि ने लिखा 'मिल जाता है।' अत: इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि ऋषि परम योगी थे। इतना ही नहीं आगे ऋषि द्वारा वेद मन्त्रों के भावार्थ से पता चलेगा कि वह न केवल परम योगी ही थे अपितु वेदमन्त्रार्थ द्रष्टा, पूर्णतत्त्वज्ञ और महावैज्ञानिक भी थे।

महर्षि पतञ्जलि ने स्व रचित योगदर्शन में योग के सभी नव अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन अष्टाङ्गयोग के पिछले तीन अंगों को मिलाते

पर नवमांग 'संयम' कहलाता है इन सब पर पूर्ण प्रकाश डाला है। योगदर्शन पर ऋषि व्यास का भाष्य भी है तथा अन्य विद्वानों के व्याख्यान, तथा टीका टिप्पणियां भी उपलब्ध हैं। ऋषि-दयानन्द ने भी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपासना विषय में योगदर्शन के अनेक सूत्रों का विवरण दिया है और उन पर अपना संस्कृत भाष्य भी लिखा है। कहीं कहीं व्यास भाष्य को भी उद्धृत किया है। उससे भी योग जानने के इच्छुकों को पूरा लाभ मिल सकता है। सौभाग्य यह है कि ऋषि ने आर्य भाषा में भी इन सूत्रों का व्याख्यान किया है।

क्योंकि गुरुकुल पत्रिका का यह वेद विशेषाङ्क है और इसमें योग विद्या पर भी लेख लिखना है। इस कारण हम अपने लेख में केवल वेद मन्त्रों के ऋषि दयानन्द कृत भाषा भावार्थ को ही उद्धृत करेंगे। वेदमन्त्र, भूमिका अर्थ, संस्कृत पदार्थ, अन्वय और संस्कृत भावार्थ तथा भाषा भाष्य देने से लेख का बहुत विस्तार हो जाता और संस्कृत न जानने वाले सज्जनों को यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता अतः हमने ऋषि द्वारा वेदमन्त्रों के भाषा भावार्थ को ही लिखा है। अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा है।

१–ऋग्वेद (ऋषिभाष्य) के भावार्थ—

क–जो पुरुष वेदविद्या वा सत्य के संयोग से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हैं उनके हृदय में ईश्वर अन्तर्यामी रूप से वेदमन्त्रों के अर्थों का यथावत् प्रकाश करके निरन्तर उनके लिये सुख का प्रकाश करता है इस से उन पुरुषों में विद्या और पुरुषार्थ कभी नष्ट नहीं होते।

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त, १०, मन्त्र ४

ख–जो मनुष्य एकान्त पवित्र निरुपद्रव देश में स्थिर होकर यमादि संयमान्त के नव अंगों का अभ्यास करते हैं, वे निर्मल आत्मा होकर ज्ञानी श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं और जो इन का संग और सेवा करते हैं वे भी शुद्धान्तः करण हो के आत्म-योग के जानने के अधिकारी होते हैं ॥ १ ४८.४

ग–हे योगाभ्यास करने हारी स्त्रि ! वह वेला तेरे योगाभ्यास करने के लिये है ॥

१.४८.६

घ–परमेश्वर और बिजुली भी सब आनन्दों को प्राप्त कराते हैं परन्तु इन दोनों का जानने वाला विद्वान दुर्लभ है। ३.६५.३

ङ–वे ही ब्रह्मवेत्ता विद्वान् होते हैं जो धर्मानुष्ठान योगाभ्यास और सत्सङ्ग करके अपने आत्मा को जान और परमात्मा को जानते हैं। और वे ही मुमुक्षु जनों के लिये इस ज्ञान के विदित कराने के योग्य होते है ॥ १.१४३.३

च–जो योगाभ्यास से समाहित चित्त दिव्य योगी जनों को अच्छे प्रकार प्राप्त हो धर्मयुक्त मार्ग न चलते हुए परमात्मा में अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे मोक्ष पाये हुए होते हैं ॥

१.१६२.२१

छ–परमात्मा विषयक उपदेश से ही साधक-जन मोक्ष पाते हैं और किसी तरह से मोक्ष को प्राप्त कभी नहीं हो सकते। १.१६४.२१

ज–जिज्ञासुजन योगारूढ पुरुषों से योग शिक्षा को प्राप्त होकर पुरुषार्थ से योगाभ्यास कर सिद्ध होते हैं।

१.१७६.६

झ–कोई भी जन सत्सङ्ग योगाभ्यास, विद्या और उत्तम बुद्धि के विना पूर्ण विद्या और धन पाने के योग्य नहीं होता है। २.२१.५

ञ–उपासना किया हुआ सर्वज्ञ ईश्वर सब ओर से दुष्टाचरण से निवृत्त कर श्रेष्ठाचार में प्रवृत्त कर अभयमुक्ति पद को प्राप्त कराके सब मुक्त जीवों को आनन्दित करता है । इसी कारण वही सब को उपासना करने योग्य है । २.४१.१२

ट–विद्वान् जन योग विद्या से अपने आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश देख औरों को दिखला कर ज्ञान से उन्हें बढ़ाते हैं । ३.१.३

ठ–योगाभ्यास विज्ञान से सेवा किया हुआ जगदीश्वर चिदाकाश में मुक्त जीवों को शीघ्र प्रवेश कर विहार कराता है । ३.३.४

ड–ब्रह्मचर्य्य, विद्या, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान और सत्पुरुषों के संग से साक्षात् किया हुआ आत्मा और परमात्मा सब दोषों को जला के सुन्दर प्रकाशित ज्ञान को प्रकट करता है ॥ ३-९-५

ढ–जगदीश्वर योगियों को वायु के द्वारा द्ध दूत के सदृश दूर देशों में वर्त्तमान समाचार पदार्थ को जनाता है ॥ ३-५५-९

ण–ईश्वर का हृदय में सब ध्यान करो ॥ ३-५५-११

त–योगाभ्यास के बिना बुद्धि नहीं बढ़ती र बुद्धि के बिना धन और परमात्मा की सिद्धि ीं होती है ॥ ४-२४-४

थ– सब योगाभ्यास करके प्राणों में वर्त्तमान ात्मा को जानकर दुःखों का नाश करो ॥

द–जो मनुष्य शुद्ध बुद्धि और योगाभ्यास से ुख देने तथा सर्व जगत को धारण कराने वाले पवन को प्राणायाम में वश करते हैं, वे सब सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ ६-४९-४

ध–जो योगी जन परमात्मा को समाधि से अपने आत्मा में अच्छे प्रकार आरोप के औरों को उपदेश देते हैं उन के लिये तुम शरीर, मन और धन को धारण करो ॥ ७-२०-७

न–जिस आकाश में, प्राणों में वा जलों में सब जगत् जीवन धारण करता है वा जिन प्राणों में स्थित योगी जन परमात्मा को प्राप्त होता है वा जहां बिजुली प्रविष्ट है उन जलों को तुम जान कर रक्षा युक्त होओ ॥ ७-४९-४

२–यजुर्वेद (ऋषिभाष्य) के भावार्थ––

क–सत्य प्रेम से उपासना किया हुआ परमेश्वर जीवों को दुष्टमार्गों से अलग और धर्ममार्ग में स्थापन करके इस लोक के सुखों को उनके कर्मानुसार देता है ॥ ५ अध्याय, ३६ मन्त्र

ख–योग विद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान नहीं हो सकता और न पूर्णविद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है ॥ ७-२८

ग–ईश्वर योगाभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करने वाले योगी पुरुष के योग को अत्यन्त बढ़ाता है ॥ ७-४०

घ–ईश्वर सब जीवों के लिये सत्य और और असत्य का बोध कराने वाला है । जिस किसी पुरुष को परमेश्वर के जानने की इच्छा हो वह योगाभ्यास करके अपने आत्मा में उसे देख सकता है अन्यत्र नहीं ॥ ७-४२

ङ–कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेम भक्ति के बिना योग सिद्धि को नहीं प्राप्त होता और

जो प्रेम भक्ति युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योग सिद्धि देता है ॥ ७-४३

च–जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भ विद्या चाहे वह यम आदि योग के अंग और क्रिया कौशलों से अपने हृदय को, शुद्ध तत्वों को जान, बुद्धि को प्राप्त और इनके गुण कर्म तथा स्वभाव से ज्ञान के उपयोग लेवे फिर ईश्वर को जान और अपने आत्मा में निश्चय करके अपने और औरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करें ॥ ११-१

छ–जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में सहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या को यथाशक्ति सेवन करें उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थ विद्या का अभ्यास करें तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो वें ॥ ११-२

ज-जो पुरुष योगाभ्यास करते हैं, व अविद्यादि क्लेशों को हटाने वाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर करते हैं ॥ ११-३

झ–जो नियम से आहार विहार करने हार जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे तत्वज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं ॥ ११-४

ञ–योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का संग करें। उनके संग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। योगाभ्यासियों के संग से योग विधि सहज मे प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के बिना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये उस योग विधि के साथ ही मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें ॥ ११-५

ट–योगी नाड़ियों में परमेश्वर को समाधि योग को प्राप्त होते हैं ॥ १२-६७

ठ–विद्वानों से योगाभ्यास की शिक्षा और योगसाधनों को बनाकर योगाभ्यास करो ॥ १२-६८

ड–जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् योगी राज यथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करने और जीवन मुक्त दशा में परोपकार करते हुए विदेह मुक्ति अवस्था में न सूर्य्य लोक और न पृथिवी पर नियम से बसते हैं किन्तु ईश्वर में स्थिर हो के अव्याहत गति से सर्वत्र विचरा करते है। १७-१४

ढ–जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १७-६७

ण-अच्छे विद्वान् योगी जन जितेन्द्रिय होकर नियम से अपने को अभीष्ट परमात्मा को पाकर आनन्द का विस्तार करते हैं ॥ १७-६८

त–जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम) के बल को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्रादि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है। उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये ॥ १७-७१

थ–जो अच्छे कार्यों को करके योगाभ्यास करने वाले विद्वान् के संग और प्रीति से परस्पर संवाद करते हैं वे सब के अधिष्ठान परमात्मा को प्राप्त होकर सिद्ध होते हैं ॥ १७-७३

द–इस संसार में योग के संस्कार से युक्त जिस जीव का पवित्र भाव में जन्म होता है वह संस्कार की प्रबलता से योग ही के जानने की चाहना करने वाला होता है। और उसका जो सेवन करते हैं वे भी योग की चाहना करने वाले होते हैं, उक्त सब योगी जन जैसे अग्नि इन्धन को जलाता है वैसे समस्त दुःख अशुद्धि भाव को योग से जलाते हैं ॥ १७-७५

ध–जो युक्त आहार व्यवहार करने हारे वेदों को पढ़, योगाभ्यास कर, अविद्यादि क्लेशों को छुड़ा, योग की सिद्धियों को प्राप्त हो और उनके अभिमान को भी छोड़ के कैवल्य को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं ॥ १९-७४

न–हे मनुष्यो ! जैसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रकाशमान है वैसे सर्व जगत् में परमात्मा प्रकाशमान है, जो योगाभ्यास से उस अन्तर्यामी परमेश्वर को अपने आत्मा से युक्त करते है वे सब ओर से प्रकाश को प्राप्त होते हैं ॥ २३-५

प–विद्या, सज्जनों का संग और योगाभ्यास से परमात्मा को शीघ्र प्राप्त होते हैं ॥ २३-६

फ–हे मनुष्यो ! जिस से बड़ा दयावान् न्यायकारी और अत्यन्त सूक्ष्म कोई भी पदार्थ नहीं वा जिसने वेदप्रकट करने द्वारा सब मनुष्य सुशोभित किये वा जिसने अद्भुत ज्ञान और धन जगत् में विस्तृत किया और जो योगाभ्यास से प्राप्त होने योग्य है वही ईश्वर हम सब लोगों को अति उपासना करने योग्य है यह तुम जानो २६-३

ब–हे मनुष्यो ! आप लोग बलादि गुणों से युक्त सब के धारण करने वाले वायु को जान के धन और बुद्धि को बढ़ावें। जो एकान्त में स्थित होके इस प्राण के द्वारा अपने स्वरूप और परमात्मा को जानना चाहे तो इन दोनों आत्माओं का साक्षात्कार होता है ॥ २७-२४

भ–हे मनुष्यो ! जो स्थूल पंचतत्व दीख पड़ते हैं उनको सूक्ष्म प्रकृति का कार्य पंचतन्मात्र नामक से उत्पन्न हुए जानो, जिनके बीच जो एक सूत्रात्मा वायु है वह सब को धारण करता है, यह जानो जो उस वायु के द्वारा योगाभ्यास से परमात्मा को जानना चाहो तो उसको साक्षात् जान सको ॥ २७-२५

म–जो सत्यभाव से परमेश्वर की उपासना करते, यथा शक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं उनको दयालु ईश्वर पापाचरण मार्ग से पृथक् कर धर्म युक्त मार्ग में चला के विज्ञान देकर धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिये समर्थ करता है, इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना कदापि न करें ॥ ४०-१

य–सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जो मैं यहां हूं वही अन्य सूर्यादि लोक में, जो अन्य स्थान सूर्य्य आदि लोक में हूं वही यहां हूं। सर्वत्र परिपूर्ण आकाश के तुल्य व्यापक मुझ से भिन्न कोई बड़ा नहीं मैं ही सब से बड़ा हूं। मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा मेरा निज का नाम

ओ३म्' यह है । जो मेरा प्रेम और सत्याचरण से शरण लेता उनकी अन्तर्यामी रूप से मैं अविद्या का विनाश कर उसके आत्मा का प्रकाश करके शुभ गुण कर्म स्वभाव वाला कर सत्य स्वरूप का आवरण स्थिर कर योग से हुए विज्ञान को दे और सब दुःखों से अलग करके मोक्ष सुख को प्राप्त कराता हूं ॥ ४०-१७

३—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (उपासना विषय)

क—उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को ईश्वर में ठीक ठीक युक्त करते हैं तथा अपने ज्ञान को भी सदा परमेश्वर में स्थिर करते हैं ॥

ऋ० ५-८१-१

ख—योग को करने वाले मनुष्य तत्वाय अर्थात् तत्वज्ञान के लिये जब अपने को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं ॥ यजु० ११-१॥

ग—उपासना योग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश रूप आनन्द को प्राप्त करें । यजु०११-२

घ—देव परमेश्वर भी उपासकों को अत्यन्त सुख को दे के उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्द स्वरूप प्रकाश को करता है । यजु० ११-३

ङ—उपासना योग से तुम लोग सुखों को प्राप्त हो। इसमें सन्देह मत करो । मैं ईश्वर तुम को उपासना योग में स्थिर करता हूं ॥ यजु० ११-४

च-जो विद्वान् योगीलोग और ध्यान करने वाले यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं, योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं । अपने ज्ञान और आनन्द को विस्तृत करते हैं और परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ यजु० १२-६७

छ—हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाडियों में ध्यान करके परमानन्द का विस्तार करो । उपासना योग वृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥ यजु० १२-६८

ज—सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु तो प्राण है उसको प्राणायाम की रीति से, अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं ॥

ऋ० १-६-१

झ—ज्ञान रूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से मुक्त लोग मुख्य सुख में प्रसन्न रहते हैं जो परमेश्वर के सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्ष भाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं । उनके जो प्राण हैं उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीति पूर्वक देखते और मिलते हैं ॥

ऋ० १०-६२-१

ञ—हे अग्ने परमेश्वर हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आप को अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और आपका ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें ॥ यजु० १६-३०

ट—हे परमेश्वर हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये ॥ यजु० १५-५४

४–सत्यार्थप्रकाश (सप्तम समुल्लास)

हे जगदीश्वर ! जिसमें सब योगी लोग इन भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल कर सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है। जिसमें ज्ञान क्रिया है पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है उस योग रूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन विज्ञान युक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ।। यजु० ३४-४

५–संस्कार विधि (संन्यास प्रकरण)

क–शमादि गुणयुक्त सन्यासिन् ! तू यथार्थ बोलने सत्यभाषण करने से, सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और प्राणायाम योगाभ्यास से सरलता से निष्पन्न होता हुआ अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को पवित्र कर परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये सब ओर से गमन कर ।। ऋ० ९-११३-

ख–हे परमात्मन् ! जिस आप में काम करने योग्य शुद्ध कामना वाले लोग यथार्थ ज्ञा युक्त शुद्ध विज्ञान युक्त मुक्ति को प्राप्त हुए जि पुरुष विचरते हैं उस अपने स्वरूप में मुझ मोक्ष प्राप्त कीजिये और उस परमानन्द के लिये कृपा से प्राप्त हूजिये ।। ऋ० ९-११३-

ग–हे सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! जि आप में सब कामनाएं प्राप्त होती हैं, उ अपने स्वरूप में परमैश्वर्य के लिये मुझ जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्ष युक्त जि मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आ पड़ता उस मुक्ति की प्राप्ति वाला कीजिये औ इसी प्रकार सब जीवों को सब ओर से प्रा हूये ।। ऋ० ९-११३-१



गणतन्त्र-दिवस पर स्थानीय भल्ला कालेज के विशाल प्रांगण में नगर के लब्धप्रतिष्ठ नागरिकों पत्रकारों, नेताओं तथा एन० सी० सी० के समवेत छात्रों को सम्बोधित करते हुए समारोह के अध्यक्ष कर्नल रघुवीरसिंह शास्त्री।

आज कैसी रात है ?

श्री इन्द्रसैन जी

मूल पूछे, मां नि, मेरी
आज कैसी रात है ?
आज शिव की रात बेटा
आज शिव की रात है ।
आज बेटा रात शिवजी
आयेंगे, हां आयेंगे
आज मिल हम गीत उनके
गायेंगे, हां,' गायेंगे ।
आज शिव की रात प्यारी
आज शिव की रात है ।
आज बेटा कुछ न खाकर,
रात सारी जाग कर,
आज शिव की अर्चना कर,
आज निद्रा त्याग कर,
आज दर्शन शिव प्रभू के
पायेंगे यह दात है ।
आज शिव की रात प्यारी
आज शिव की रात है ।
मूल शंकर ने कहा तब,
मैं नहीं कुछ खाऊंगा,
रात सारी जाग लूंगा,
दर्शनों को पाऊंगा
पुत्र क्यों ना जाग लेवे
जागती जब मात है,
फ़िक्र की क्या बात माता
आज शिव की रात है ।
प्यार में माता पुकारी,
मूल, तुम व्रत मत धरो ।
आयु छोटी है तुम्हारी,
पुत्र हठ को मत करो ।
आज सुन्दर सूर्य निकला,
आज प्यारी प्रात है ।
आज शिव की रात बेटा
आज शिव की रात है।
धर्म पर दृढ़ मूलने पर
ठान व्रत को ही लिया,
भूख की परवाह की ना
बूंद जल तक नहि पिया,
नींद आई पर न उसने
एक भी झोंका लिया
हाथ में ले पानियों को
आंख पर छींटा दिया ।
गोद निद्रा देवि सारे
मात पितु औ भ्रात हैं
आज शिव की रात प्यारी
आज शिव की रात है।
देव शंकर तो न आये
एक चूहा आ गया
जो चढ़ावा था चढ़ा सब
मौज से वह खा गया !
मूढ करता मूर्ति पर क्यों ?
तात यह क्या बात है ?
आज शिव की रात प्यारी,
आज शिव की रात है।
रात गुजरी शिव न आए
प्रात भी आ हो गया
सर्वव्यापी देव शंकर
क्या कहीं पर सो गया,
जो हटाता मूषकी नहि
ध्यान में मम खोगया,
मूल शंकर सोचता है
बोध जिस को हो गया
जोत ज्ञानी जगमगी जो
क्या जगत को ज्ञात है ?
आज शिव की रात सजनी
'इन्द्र' शिव की रात है।

प्राचीनसाहित्य में श्वसनसंख्या तथा श्वासरोग का विवेचन

श्री आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, एच-१११ शिवाजीपार्क नयी दिल्ली–२६

इस लेख में प्राचीन साहित्य के आधार पर श्वसन संख्या की समीक्षा करके आयुर्वेदोक्त श्वास रोग का संक्षिप्त प्रारम्भिक विवेचन किया गया है। श्वासरोग का विस्तृत विवरण इस लेख का विषय नहीं है। श्वास रोग के विस्तृत वर्णन के लिए एतद्विषयक अन्य लेखों एवं निबन्धों-ग्रन्थों को देखना उचित है।

प्राचीनसाहित्यमें श्वसन-संख्या--

उच्छ्वास१ (अन्तःश्वसन) एवं निःश्वास२ (बहिःश्वसन) के एक पूरे चक्र या द्वन्द्व को एक श्वास (या, श्वसन)-संख्या माना जाता है। यह श्वसन-संख्या या गति प्रायः नियत होती है। वराहोपनिषद्३, ध्यानबिन्दूपनिषद्४ तथा हंसोपनिषद्५ में अहोरात्र (अर्थात्, पूरे २४ घण्टे) की श्वसन-संख्या २१६०० मानी गयी है; अर्थात्–प्रतिमिनट १५ बार। ये ग्रन्थ 'योग-उपनिषदः'६ के अन्तर्गत योग-सम्बन्धी हैं और इनमें वर्णन समाधि की दृष्टि से है। समाधि-मुद्रा में श्वसन की प्रक्रिया मन्द तथा गम्भीर रहने के कारण श्वसन की गति या संख्या न्यून रहना स्वाभाविक है। तथापि यह प्रतिमिनट १५ संख्या स्वस्थावस्था की अच्छी निदर्शक है।

शतपथब्राह्मण में भी अहोरात्र की श्वसन-संख्या इतनी ही बतायी गयी है। वहां श्वसन की क्रिया को 'प्राणिति' एवं 'अपानिति' में बांटकर प्रत्येक की संख्या सौ सैकड़े (१००×१००= १०,०००) तथा आठ सैकड़े (८×१००=८००) अर्थात् १०, ८०० बतायी गयी हैं। इस प्रकार, अहोरात्र में प्राणन-अपानन-रूपी संयुक्त श्वसन-क्रिया की संख्या २१,६००, २(१००×१००)+ (८×१००) =२१,६००

१,२- "उच्छ्वासः श्वासमार्गेण बाह्यवायोराकर्षणम्; निःश्वास आकृष्टवायोः निस्सरणम्।।' ('सिद्धान्तनिदान'–गणनाथसेन। प्रथम खण्ड)।

३. "षट्शतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः। अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघातकः।।" (वराहोपनिषद्।५।३। देखें–अड्यार–पुस्तकालय से प्रकाशितं योगोपनिषदः, पृ०५०२)।

४. "हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः। 'हंस'–'हंसे'-त्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।६१ शतानि षड् दिवारात्रि सहस्राण्येकविंशतिः। एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।६२ (ध्यानबिन्दूपनिषद् ६१-६२) देखें–योगोपनिषदः, पृ० २००)।

५. "अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति।।" (हंसोपनिषद्।११। देखें–'योगोपनिषदः' पृ० ५६५)।

६. 'अड्यार'–पुस्तकालयके लिए पुस्तकालयाध्यक्ष श्री अ० महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित–प्रकाशित "अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु 'योग-उपनिषदः"। व्याख्याकार–श्री उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन्।

अर्थात् प्रतिमिनट १५. बनी। यह संख्या श्रमरहित शान्त स्थित, या आसीन, या स्वप्न-अवस्था में बतायी गयी है।२

नवीन अवेक्षणों ने प्राकृत श्वसन-संख्या १ प्रतिमिनट १६ से २० (औसतन १८) पायी गयी है। विशेष३ अवस्था में इससे न्यूनाधिक भी सम्भव है। एकाग्र ध्यानस्थ समाधिस्थ एवं गम्भीरनिद्रित अवस्था में १६ से भी न्यून हो जाती है तथा उत्तेजना-व्यायाम-परिश्रम-आदि की अवस्था में २० से भी ऊपर चली जाती है। प्राणायाम के विलम्बित एवं द्रुत रूपों में क्रमशः न्यूनता तथा अधिकता बढ़ी रहती है। अड्यार-पुस्तकालय से प्रकाशित 'योगोपनिषद्' के व्याख्याकार श्री उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन् की व्याख्या के अनुसार सुखपुर्ण स्थिति (निश्चिन्तता) में तथा दृढ़ स्वस्थ शरीर रहने पर श्वसन-गति मन्द रहती है।३ इसीलिए 'योगोपनिषदों में श्वसनसंख्या प्रतिमिनट १५ बतायी है।

ऊपर जो श्वसन-संख्या का मान प्रतिमिनट बताया गया है, वह प्रौढ़ पुरुष का है। स्त्रियों में यह मान कुछ अधिक रहता है तथा बच्चों और शिशुओं में उनसे भी अधिक। जन्मकाल में शिशु की श्वसन-संख्या ४० होती है। अतः वय-लिंग एवं अवस्था का ध्यान इस विषय में रखना आवश्यक होता है।

और, रुग्णावस्था में श्वसन-संख्या का वह मान बढ़ जाता है। ज्वर में तापमान तथा नाड़ी-संख्या के साथ-साथ श्वसन-संख्या भी बढ़ जाती है। विशेषतः फुफ्फुस या श्वासपथ में विकृति होने पर श्वसन-संख्या और भी अधिक हो जाती है। उदाहरणार्थ–श्वसनसन्निपात निमोनिया, (Pneumonia) में। श्वास एवं नाड़ी का जो अनुपात प्राकृतावस्था में १ :४ (१८ : ७२) रहता है वह इस श्वसन संख्या-वृद्धि के कारण परिवर्तित होकर १ : ३ या १ : २ तक भी पहुंच जाता है। तब, यदि नाड़ी संख्या १५० या १६० हो जावे तो १ : २ के अनुपात - क्रम के अनुसार श्वसन-संख्या ७५ या ८० तक होगी। सम्भवतः इसी अवस्था को ध्यान में रखकर 'अमृतनादोपनिषद्' में अहोरात्र की श्वसनसंख्या १,१३,१८० (अर्थात्, प्रतिमिनट लगभग ७८.५) बतायी गयी है।१ इस सम्भावना या

---

१. शत शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं तद्वदन्ति। अहोरात्राभ्याम् पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चाप चानिति॥" (शतपथब्राह्मण काण्ड १२। अध्याय ३। ब्राह्मण २। मन्त्र ८।

२. "श्रमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि। अहोरात्राभ्याम् पुरुषः समेन कतिकृत्वः प्राणिति चाप चानिति॥" (शतपथब्राह्मण। काण्ड १२। प्रपाठक् १। ब्राह्मण १०। मन्त्र ८॥ अर्थात् का० १२, अध्याय ३, ब्रा० २, मन्त्र ८)।

३. "सुखं तिष्ठतो दृढ़गात्रस्य श्वासगतिः स्तिमिता विभाति....॥" (श्री-उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन्-कृत टीका:; 'योगोपनिषदः'–अड्यार–१९२० की 'अमृतनादोपनिषद्'–सूत्र ३३ पर श्री–उपनिषद्– ब्रह्मयोगिन्–कृत व्याख्या। पृ० २३)।

---

१. "अशीतिश्च शतं चैव। सहस्राणि त्रयोदश। लक्षश्चैकोननिःश्वास अहोरात्रप्रमाणतः॥" (अड्यार–पुस्तकालय से प्रकाशित 'योगोपनिषदः' के अन्तर्गत 'अमृतनादोपनिषद्' का सूत्र ३३।पृष्ठ२३)। अर्थात् अहोरात्र में श्वसन-संख्या १, १३, १८० होती हैं।

विचार की पुष्टि इसके व्याख्याकार श्री-उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन् द्वारा की गयी व्याख्या से भी होती है। उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अन्य स्थानों (वराहोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, हंसोपनिषद् एवं शतपथब्राह्मण) में उपदिष्ट श्वसन-संख्या २१,६०० तथा 'अमृतनादोपनिषद्' में उपदिष्ट इस १,१३,१८० संख्या में विरोध का परिहार इस प्रकार किया है कि जहां इस विभेद का कारण बाल्य-आदि विविध अवस्थाओं में शरीरोपचय एवं श्वसन-गति का तारतम्य है वहां यह भी कि मुख-स्थिति में उपस्थित स्वस्थ-पुष्ट-शरीर (दृढगात्र) वाले व्यक्ति की श्वसन-गति मन्द रहती है तथा इससे विपरीत (असुखपूर्ण स्थिति एवं अस्वस्थ-आतुर-शरीर) में उससे विपरीत, अर्थात् द्रुत एव अत्यधिक।२ इससे स्पष्ट है कि जहां शतपथब्राह्मण, वराहोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, एवं हंसोपनिषद् में उपदिष्ट श्वसन-संख्या (अहोरात्र में २१,६०० अर्थात् प्रतिमिनट १५) स्वस्थ-पुष्ट एवं चिन्तादि-रहित शरीर एवं मनोवस्था की है, वहां 'अमृतनादोपनिषद्' में वर्णित-श्वसन संख्या (अहोरात्र में १,१३,१८० अर्थात् प्रतिमिनट लगभग ७८.५) अस्वस्थावस्था की है।

इसके विपरीत, कुछ अवस्थाओं में श्वसनकी गति संख्या घट भी जाती है। यथा—निद्रल एव मादक द्रव्यों के विषप्रभाव से, अहिफेन से, धातुक्षय में, अग्निमांद्य में, धातुपाकमन्दता में, मूत्रविषसंचार में, मधुमेहजमूर्च्छा आदि में।

श्वास-नाडी-अनुपात—

ऊपर हम बता आये हैं कि श्रमविहीन शान्त स्थित-आसीन-शयान अवस्थाओं में श्वसन-संख्या प्रतिमिनट १५ (अहोरात्र में २१,६००) रहती है। परिश्रम या अस्वस्थता की अवस्था में यह संख्या

'अमृतनादोपनिषद्' के इस सूत्र की व्याख्या कुछ अन्य प्रकार से करनी उचित प्रतीत होती है। उसमें प्रथम बात यह है कि प्रस्तुत सन्दर्भ 'प्राण' का है, जिस 'प्राण' का स्थान अगले सूत्र ('प्राण आद्यो हृदि स्थाने'—सूत्र ३४। व्याख्या—'श्वासकृत्प्राणादिस्थानान्याह') में 'हृदय' बताया है तथा पूर्व सूत्र की व्याख्या ('प्राणो यत्र हृदयाकाशे वागादिभिः प्राणैः सह प्रतिष्ठितः') में भी कहा है। इस हृदयस्थ 'प्राण' के सन्दर्भ में आधार-आधेय-सम्बन्धसे 'निःश्वास'—प्राण का अर्थ 'हृद्गति करना प्रसंगोपात्त प्रतीत होता है। द्वितीय, इस सूत्र (सं० ३३) में 'लक्षञ्चैकोन० का अर्थ एक कम लाख" (अर्थात् ९९.९९९) करने से कुल संख्या ११३, १७९ (प्रतिमिनट, ७८ लगभग) बनेगी, और ९९,००० करने से कुलसंख्या १०३, १८० (प्रतिमिनट, ७१) बनेगी जो अर्वाचीन विज्ञान की 'हृद्गति' (प्रतिमिनट, ७२) से मेल खाती है।

२. "अहोरात्रनिर्वर्त्यश्वासप्रमाणमाह – अशीतिश्चेति।....श्रुत्यन्तरं तु षट्संख्याहोरात्रयोः एकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्तीत्याम्नातम्। प्रकारद्वयप्रतिभातसंख्याभेदस्तु बाल्यादिशरीरतारतम्यतः उपपद्यते। सुखं तिष्ठतो दृढगात्रस्य श्वासगतिः स्तिमिता विभाति, एतद्विपरीतस्य विपरीता भवतीति उभयमपि सङ्गच्छते, नहि विरोधोऽस्तीत्यर्थः। (अड्यार—पुस्तकालय से प्रकाशित 'योगोपनिषदः' में 'अमृतनादोपनिषद्' के ३३वें सूत्र की व्याख्या में श्री-उपनिषद्—ब्रह्मयोगिन्। पृष्ठ २३)।

बहुत बढ़ जाती है; यहां तक कि प्रतिमिनट ७८-८० तक भी जा पहुंचती है।

स्वस्थावस्थाओं में श्वसन-संख्या तथा नाड़ी-संख्या का परस्पर एक विशेष अनुपात स्थिर रहता है। इस दृष्टि से स्वस्थ शरीर की श्वसन-संख्या श्रम-विहीन अवस्था से भिन्न कार्यादि की सामान्य अवस्थाओं में १६ से २० औसतन,१८) प्रतिमिनट मानी जाती है तथा नाड़ी-संख्या ६० से ९० (सामान्यतः ७० से ७५, औसतन ७२) प्रतिमिनट। इस प्रकार, श्वास-नाड़ी का अनुपात १८ : ७२ अर्थात् १ :४ बना। इस अनुपात का वर्णन ईसा से कई सदियों पूर्व सर्वप्रथम प्राचीन चीन में हुआ था।

यह श्वास नाड़ी अनुपात समान्यतया स्थिर रहता है। परिश्रम-ज्वर-आदि में श्वास एवं नाड़ी दोनों की गतियां बढ़ जाती हैं और उस स्थिति में भी इनका पारस्परिक अनुपात यही रहता है। उदाहरणार्थ--तापमान नार्मल से १°फार. बढ़ने पर नाड़ीसंख्या में १० की वृद्धि होती है और उसी अनुपात में श्वास भी बढ़ता है; ४°फार. तापमान बढ़ने पर नाड़ीसंख्यामें ४० (४×१०=४०) की वृद्धि होकर वह ११२ (७२+४०=११२) हो जावेगी और तब श्वास-संख्या उसी अनुपात में २८ होगी।

परन्तु इसके अपवाद भी हैं। मन्थरज्वर-सन्निपात (आन्त्रिकज्वर, टाइफाइड-फीवर) में हृदय-नैर्बल्य के कारण नाड़ीगति मन्द हो जाती है तो तापमान में प्रति १° फा० की वृद्धि के साथ नाड़ी की गति या संख्या में वृद्धि १० के स्थान पर कहीं न्यून होती है और श्वास की गति या संख्या में वह वृद्धि अपने स्वाभाविक अनुपात में होती है, तो श्वास-नाड़ी-अनुपात तब १:४ के स्थान पर १:३ या इसी प्रकार परिवर्तित होजाता है। सशोफ हृदयावसाद (कंजैस्टिव कार्डियक फेल्यार: Congestive cardiac failure) में भी अनुपात इसी प्रकार १ : ३ या १ : २ या कभी-कभी एकाध रोगी में १ : १ भी हो जाता है। दूसरी ओर, श्वसनक-सन्निपात (निमोनिया; Pneumonia) में श्वासगति अपने स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा कहीं अधिक द्रुत होती है; तब भी यह श्वास-नाड़ी-अनुपात १ : ३ या १ : २ और कभी-कभी एकाध केस में १ : १ तक जा पहुंचती है। सम्भवतः ऐसी अवस्था का ही इंगित 'अमृतनादोपनिषद्' के पूर्वोद्धृत सूत्र ३३ में है जहां श्वाससंख्या अहोरात्र में उतनी अधिक ("अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश। लक्षश्चैकोन निःश्वासः अहोरात्र प्रमाणतः ॥"–अमृतनादोपनिषद् ।३३) बतायी गयी है। इसके विपरीत अहिफेन-विष में श्वास-गति बहुत मन्द होजाने के कारण यह अनुपात घटकर १ : ५ या १ : ६ भी हो जाता है।

इस प्रकार, अनेक रोगों के निर्णय में यह श्वास-नाड़ी-अनुपात सहायक होता है।

श्वसन का ताल--

'ताल' का अर्थ है, नियत समयके बाद नियत रूप में यथापूर्व आवृत्ति होना। जिस प्रकार संगीत में सम एक विशेष स्थान पर आकर गिरता है तथा तबले की थाप भी उसके साथ पड़ती है, उसी प्रकार श्वास भी नियत गति एवं नियमित अन्तर पर आता और निश्चित अवधि का रहता है--यही श्वास का ताल है।

श्वसन का नियमित ताल (Rhythm) तथा नियमित गति स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। उसी के आधार पर श्वसनकी संख्या प्रतिमिनट १५ या

१६ से लेकर २० (औसतन, १८) होती है। और, प्रत्येक बार जो श्वास आता है, वह पिछले से नियत अन्तर पर आता है, उतना ही ऊंचा उठता है, तथा उतने ही समय बाद उसमें अवरोह या उतार आता है। दो श्वासों के नियत बिन्दु तथा मध्यान्तर सदा पूर्व सम होते हैं। ऐसी नियमितता स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है।

कुछ अवस्थाओं में इस गति और ताल या नियमबद्धता में अन्तर भी पड़ जाता है। उदाहरणार्थ--आवेशों या मनोवेगों में और क्रोध-उग्रता-हिंसा-घृणा-द्वेष-उत्तेजना-आदि में गति तथा ताल तीव्र हो जाते हैं और शान्तावस्था-भय-आदि में मन्द। तब भी अन्तर अधिकतर गति में आता है और ताल स्वस्थ से भिन्न होने पर भी उस अवस्था में प्रायः एकसम रहता है। परन्तु कुछ रोगावस्थाओं में ताल भी बेताल हो जाता है। ऐसी अवस्था को 'श्वासरोग' (Breathing disease) कहते हैं।

श्वासरोग (Breathing disease)—

आयुर्वेद में श्वासरोग पांच प्रकार के बताये गये हैं--छिन्न, ऊर्ध्व, महा, क्षुद्र तथा तमक श्वास। ये सब श्वसनक ताल तथा स्वरूप में विकृति के उदाहरण हैं, अतः कष्टकर होने पर 'श्वासरोग' कहलाते हैं। परन्तु श्वास की गति एवं ताल में यह अन्तर कभी-कभी रोग के बिना भी आजाया करता है, तब ये 'छिन्नशासन' आदि नामों से कहे जाते हैं। हम श्वसन वाली संज्ञा के रूप में ही इन पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

छिन्नश्वसन --

इस अवस्था में श्वसन की गति तथा ताल में विच्छिन्नता आजाती है।[1] 'विच्छिन्नता' का अर्थ है, श्वसन का बन्द या मन्द होना। प्रायः श्वसन की क्रिया बीच-बीच में बन्द होजाती है। परन्तु इसके साथ ही श्वसन-क्रिया में बढ़ने तथा घटने और बन्द होने का संयोग अनेक रूपों या क्रमों में सम्भव है। इसके दो प्रकार प्रमुख हैं--

(क) प्रथम प्रकार में श्वसन-क्रिया की विच्छिन्नता के मुक्तानुबन्धी आवेग धीरे-धीरे आते हैं तथा बाद में उसी प्रकार शनैःशनैः श्वसन-क्रिया नियमित हो जाती है। पुनः उसी प्रकार विच्छिन्नता आती है और उसके बाद नियमितता। प्रत्येक विच्छिन्नता-आवेग में प्रथम धीरे-धीरे श्वसन-क्रिया मन्द होती हुई सर्वथा बन्द होजाती है; लगभग ५ से ४० सैकण्ड तक बन्द रहने के बाद श्वसन-क्रिया पुनः उदित होकर धीरे-धीरे बढ़ती है, यहां तक कि श्वसन-वृद्धि का रूप श्वासकाठिन्य या श्वासकृच्छता (Dyspnoea) का होजाता है। पुनः यथापूर्व क्रम से अगला आवेग कुछ देर बाद धीरे २ प्रारम्भ होता है। इस प्रकार के श्वसन को चेन-स्टोक्स-श्वसन (Cheynestokes-respiration) कहते हैं। इसमें कभी-कभी खर्राटें या घुर्घुरक-श्वसन' (Stertorous respiration)

---

१. (क) "यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।" (चरक। चिकित्सा।१७।५२)।

(ख) "सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत्।" (सुश्रुत। चिकित्सा ५१।११)।

(ग) "छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नम्।" (अष्टांगहृदय। निदान।४।११)।

को भी उपस्थिति होती है । सामान्यत: गहरी नींद की अवस्था में इस प्रकार का श्वसन थोड़े बहुत रूप में मिलता है । गम्भीर मूर्च्छा (वातनाडीकेन्द्रों में विकृति से उत्पन्न) में तथा निद्रल विषद्रव्यों के विषात्मक प्रभाव से भी ऐसा श्वसन होजाता है । इसके अतिरिक्त जरठता (Senility), हृद्रोग, वृक्करोग, मस्तिष्क रोग, आदि में तथा वातिक रूक्षता–खरता एवं कठिनता का प्रभाव मस्तिष्क-श्वासपथ-रक्तवाहिनियों-आदि में होने पर भी ऐसा विकृत श्वसन पाया जाता है ।

(ख) द्वितीय प्रकार में विच्छिन्नता का आवेग धीरे-धीरे के स्थान पर अकस्मात् शीघ्रता से आता है । अकस्मात् श्वसन-किया बन्द या मन्द हो जाती है तथा लगभग १० से ४० सैकन्ड तक बन्द रहकर अकस्मात् द्रुत हो जाती है । इस आकस्मिक श्वसन-हीनता के आगे-पीछे उथले-गहरे या द्रुत श्वसन की उपस्थिति मिलती है । इस प्रकार को 'बायट-श्वसन' (Biot's respiration) या 'मस्तिष्कच्छद शोथज-श्वसन' (meningitic respiration) कहते हैं । यह प्राय: घातक होता है । यों, कभी-कभी बच्चों में निद्रा में भी यह प्रकार देखा जाता है ।

आयुर्वेद में 'छिन्नश्वास'–नाम से जो वर्णन है, वह 'छिन्नश्वसन' की प्रक्रिया का रोगात्मक असाध्य रूप है । 'छिन्नश्वसन' तो सामान्यतया स्वस्थ शरीर में भी प्राकृत रूप में गहरी निद्रा के समय उपलब्ध होता है, परन्तु 'छिन्नश्वास' असाध्य श्वासरोग है, जिसमें छिन्नश्वसन' की प्रक्रिया अन्य असाध्य लक्षणों के साथ मिली रहती है ।

'छिन्नश्वास' में श्वसन-क्रिया के ताल में विच्छिन्नता (विषमता या अभाव) के अतिरिक्त रोगी को मर्मच्छेद-सदृश वेदना होती है जिससे रोगी को बड़ी बेचैनी, प्रलाप, विक्षिप्तचित्तता, मूर्च्छा, विप्लुताक्षता,१ परिशुष्कास्यता, विवर्णता तथा स्वेदाभिवृत्ति होती है । उदर में आध्मान होता है तथा बस्तिप्रदेश में दाह एवं निरोध के कारण मूत्रकृच्छ्र या मूत्रनिरोध होजाता है । इसके अतिरिक्त, एक नेत्र में प्रबल शोथ एवं लालिमा होती है, जिससे नेत्र के भीतर एवं मस्तिष्क के अन्दर क्षोभ, रक्तस्राव एवं विषप्रभाव की उपस्थिति का अनुमान होता है । सर्वप्राण में पीड़ा के साथ-साथ मृत्यु भी हो जाती है ।१ ऊपर वर्णित रोगों के साथ-साथ ये लक्षण तुलनीय हैं ।

---

१. विप्लुताक्षता = Nystagmvas "विप्लुते एकमानवस्थिते अक्षिणी यस्य स एवम् ।" (अरुणदत्तटीका । अष्टांगहृदय । निदान ।४।११)

१.क. "यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडित:।
न वा श्वसिति दु:खार्तो मर्मच्छेदरुगर्दित: ॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन वस्तिना ।
विप्लुताक्ष: परिक्षीण: श्वसन् रक्तैकलोचन:॥
विचेत: परिशुष्कास्यो विवर्ण: प्रलपन् नर: ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्न: स शीघ्रम् प्रजहात्यसून् ।।" (चरक । चिकित्सा १७।५२-५४)।

ख. "छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नं मर्मच्छेदरुगर्दित:
सस्वेदमूर्च्छ: सानाहो वस्तिदाहनिरोधवान् ।
अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचन: ॥
शुष्कास्य: प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतन: ।
(अष्टांगहृदय । निदान ।४।११-१३) ।

ऊर्ध्वश्वसन—

श्वसन की नियमित चलती क्रिया के काल में इस अवस्था में अन्तराअन्तरा श्वसन ऊंचा और गहरा आता है,२ जैसे 'आह' भरी जाती है। 'आह' के सदृश स्वरूप के कारण इसे 'आह्-श्वसन' (Sighing respiration, suspirous breathing) कहते हैं। प्रायः यह अवस्था मानिक क्षोभ, श्रम, श्रम या दौर्बल्य में होती है।

आयुर्वेद में 'ऊर्ध्वश्वास' के नाम से जिस अवस्था का वर्णन है, वह रोगात्मक एवं असाध्य है। रोगी एक बार ऊर्ध्व श्वसन (यहां 'ऊर्ध्व श्वसन का अभिप्राय 'बहिःश्वसन' है) दीर्घ काल तक लेता है, अर्थात् श्वास वायु को बाहर निकालने में पर्याप्त विलम्ब लगाता है; परन्तु फिर उसके बाद अन्तःश्वसन अपर्याप्त रूप में आता है।३ इसे 'बहिःश्वसनकष्ट' (Expiratory dyspnoea) कह सकते हैं। इसमें अन्य लक्षण निम्नलिखित होते हैं—मुख तथा प्राणवह स्रोतों में श्लेष्मा भरे रहना, वात का प्रकोप, आंख का ऊपर को चढ़ जाना और दृष्टि-असामर्थ्य या नेत्रों का चंचलतावश इधर-उधर घूमना, मूर्च्छा, अतिवेदना, मुख सूखना, बेचैनी, भ्रम, मोह, वाङ्निरोध, रोना, मर्मच्छेद, आदि-आदि।१ मृत्यु बहुत सम्भव है।

महाश्वसन—

इस अवस्था में श्वसन की प्रक्रिया प्राकृत की अपेक्षा अधिक ऊंची और गहरी परन्तु एकसम (rhythmic) रहती है, अतएव वक्षस् के आरोह-अवरोह को दूर से ही देखा जा सकता है।२ इसे

---

२. (क) "दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वम्" (चरक। चि.। १७।४९)। (ख) "दीर्घमूर्ध्वं श्वसिति" (हृदय। नि.।४।१६)। (ग) ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घम्। माधव निदान। श्वास प्रकरण)।

३. (क) "दीर्घं श्वसिति श्वासस्य बहिर्निर्गमनं दीर्घकालं करोति। न च प्रत्याहरत्यध इति श्वासमधो न नयति।" (चक्रपाणि-टीका। चरक। चिकित्सा।१७।४९)।

(ख) "ऊर्ध्वं श्वासम् मुक्त्वा पुनरधोनिःश्वासवत्तं तं श्वासं प्रत्याहरति। यथा,—अन्येषु श्वासेषु नर ऊर्ध्वं दीर्घं श्वासम् मुक्त्वा पुनरधः प्रत्याहरति पुनरन्तः प्रवेशयितुं शक्नोति, नैवमस्मिन्नूर्ध्वश्वास इत्यर्थः।' (अरुणदत्तटीका। अष्टांगहृदय। निदान। ४।१६)।

---

१. (क) "दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधः निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून्॥ (चरक। चिकित्सा।१७। ४९-५१)।

(ख) "दीर्घमूर्ध्वं श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यधः
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः॥
ऊर्ध्वदृग् वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परितः क्षिपन्।
मर्मसुच्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक्॥"
(अष्टांगहृदय। निदान।४।१६-१७)।

२. (क) "उच्चैः श्वसिति....प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।" (चरक। चिकित्सा।१७।४६, ४८)।

(ख) "महता....नादेन श्वसिति..उद्धूयमानः....वक्षः समाक्षिपन्।"
(अ० हृदय। निदान।४।१३, १४, १५)

'अतिश्वसन' (Hyperpnoea, hyperventilation) भी कह सकते हैं। ओषजन के भारी दबाव वाले वातावरण में श्वसन से ऐसी स्थिति होती है। इससे रक्त तथा तन्तुओं में ओषजन की मात्रा बढ़ जाती है तथा निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं— भ्रम, व्यामोह, स्पर्शशून्यता, पेशीकम्प, कर्णस्वन, हस्तपाद में पिपीलिका-परिसर्पण-वेदना, और कभी-कभी आकस्मिक मूर्च्छा भी।

आयुर्वेदोक्त 'महाश्वास' वस्तुतः असाध्य रोगावस्था है। इसमें श्वसन क्रुद्ध-उन्मत्त धौंकनी के समान वेगवान् तथा ऊंची आवाज़ वाला होता है, मानों कोई क्रुद्ध बैल खूंटे से बंधा हो और ज़ोर से हांफ रहा हो; विवेकशक्ति जाती रहती है; नेत्र विह्वल भटकते-से और विकृत लाल होते हैं; चेहरा (आनन) विह्वल लाल एवं दीनतापूर्ण होता है; वाणी लड़खड़ाती तथा अस्पष्ट होती है; कण्ठ सूख जाता है; कर्ण-शंखदेश-शिर-आदि में बड़ी वेदना होती है; मल-मूत्र रुक जाते हैं; बीच-बीच में मूर्च्छा भी आती रहती है और प्रायः असाध्यता ही होती है। मृत्यु प्रायः शीघ्र ही हो जाती है।१

ये तीनों श्वास (छिन्नश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं महाश्वास) यदि अस्पष्ट एवं निर्बल लक्षणों वाले हों, तो साध्य या कष्टसाध्य होते हैं, परन्तु इनके लक्षण यदि प्रबल एवं सुव्यक्त हों तो इन्हें असाध्य ही समझना चाहिये।२ आधुनिक चिकित्सा से कुछ याप्यता प्राप्त हो सकती है, परन्तु पूर्ण साध्यता नहीं।

क्षुद्रश्वसन—

क्षुद्रश्वसन (Short breathing) में रोगी का का श्वसन उथला और द्रुत होता है, इसे 'हांफना' भी कहते हैं। रूक्ष पदार्थों के अति सेवन, परिश्रम, अतिभोजन, आदि से इसकी उत्पत्ति होती है और स्वयं शान्ति भी हो जाती है। यह तब एक प्रकार का अस्थायी अवस्थित श्वसन होता है, रोग नहीं। न तो इसमें अधिक कष्ट होता है, इन्द्रियों एवं गात्र में व्यथा अथवा वेदना नहीं होती, खान-पान के पाचन में तथा महास्रोत-वर्ती गतियों में रुकावट भी नहीं होती, इन्द्रियों के व्यवहार में बाधा नहीं पहुंचती तथा सामान्यतः इस श्वसन के कोई उपद्रव भी नहीं होता।३ अर्थात् सब मिलाकर यह 'क्षुद्र-

१. (क) "उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ प्रणष्टज्ञानविज्ञानस्तथा। विभ्रान्तलोचनः विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥" (चरक। चिकित्सा।१७।४६-४८)।

(ख) "महता महता दीनो नादेन श्वसिति क्रथन् ॥ उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभ-इवानिशम्। प्रणष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्त-नयनाननः ॥ वक्षः समाक्षिपन् बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्। शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्णशंखशिरोऽतिरुक् ॥" (अष्टांगहृदय। निदान।४।१३-१५)।

२. (क) "एते सिद्ध्येयुरव्यक्ताः, व्यक्ताः प्राणहरा भृशम्।" (अष्टांगहृदय। निदान।१८)

(ख) "क्षुद्रः साध्यो यतस्तेषां, तमकः कृच्छ्र उच्यते। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥" (सुश्रुत। उत्तर ५१ (सुश्रुत। १३।५१।१४)

३. (क) "रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनांगप्रबाधकः॥ हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे। न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ नेन्द्रियाणां व्यथां वापि कांचिदापादयेद्रुजम्। स साध्य उक्तः...॥" (चरक। चिकित्सा।१७।६५-६७)।

(ख) तत्रायासातिभोजनैः। प्रेरितः प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वयंसंशमनम् मरुत् ॥" (अ. हृदय। निदान।४।५)।

श्वसन' साध्य होता है ।२ द्रुत भस्त्रा-प्राणायाम में भी ऐसा क्षुद्रश्वसन होता है । सामान्य प्राकृत क्षुद्र श्वसन या 'हंफनी' से अतिरिक्त 'क्षुद्रश्वसन-प्रवृत्ति' (Short-breath-disposition) ३ अनेक व्यक्तियों में रहती है और सम्यक् प्राणायाम के द्वारा इस प्रवृत्ति को दूर करके श्वसन सामान्य बनाया जा सकता है ।

जलोदर, वातोदर, कफोदर, अजीर्ण, अलसक, मेदस्विता, गुरुभोजन आदि रोगों तथा अवस्थाओं में भी क्षुद्रश्वसन वैकृत रूप में रहता है; तथातत्र मूलरोग की चिकित्सा करके प्राणायाम के द्वारा श्वसन को प्राकृत किया जा सकता है ।

रोग-रूप में भी 'क्षुद्रश्वास' बहुतों में रहता है। तब रोगी जरा-सा भी काम करने लगता है तो उसे श्वासकृच्छता (Dyspnoea) होने लगती है, जो विश्राम करने पर शान्त हो जाती है ।३ इसका भी प्रतिकार 'प्राणायाम' ही है । सामान्यतः 'क्षुद्रश्वास' साध्य है ।

तमकश्वास--

यह एक रोग ही है; सामान्य 'श्वसन' ऐसा कभी नहीं होता । इसमें भी श्वास की गति तथा ताल में वैषम्य आ जाता है । यह एक विस्तृत विषय है तथा स्वतन्त्र लेख या निबन्ध की अपेक्षा रखता है । इसके सम्बन्ध में बहुत-सा अनुसन्धान जामनगर, बनारस, बड़ौदा, राजस्थान आदि में हो चुका है तथा पर्याप्त अनुसन्धान-साहित्य प्रकाशित भी हो चुका है । इन पंक्तियों के लेखक ने भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा है । इस संक्षिप्त लेख में इस विषय को नहीं लिया जा सकता ।

विषयसंक्षेप--

१. विश्रामावस्था में श्वसन-संख्या अहोरात्र में २१,६०० तथा प्रतिमिनट १५ होती है ।
२. सामान्य कार्य-व्यापार के समय श्वसन-संख्या प्रतिमिनट १८ होती है । सामान्यतः १६ से २० ।
३. अति परिश्रम, क्रोध, रोग आदि में श्वसन-संख्या बढ़कर ७५-८० भी हो जाती है ।
४. श्वसन-संख्या के ये मान वराहोपनिषद्-ध्यानबिन्दूपनिषद्-हंसोपनिषद् अमृतनादो-पनिषद्–शतपथब्राह्मण–आदि प्राचीन साहित्य में उपदिष्ट हैं ।
५. अमृतनादोपनिषद् में उपदिष्ट प्राणसंख्या का विनियोग प्राण के अधिष्ठान हृदय में करने से हृदयगतिसंख्या ७१ या ७८.५ प्रतिमिनट आती है जो आधुनिक के सन्निकट ही है ।
६. श्वसन के ताल मे वैषम्य से उत्पन्न तीन रोग (छिन्न-ऊर्ध्व-महाश्वास) असाध्य हैं ।
७. श्वसन के ताल में उत्पन्न क्षुद्र एवं अस्थायी वैषम्य से उत्पन्न क्षुद्रश्वास प्रायः साध्य होता है ।
८. 'तमकश्वास' भी श्वसन-ताल-वैषम्य से उत्पन्न होता है, परन्तु यह एक रोग है और याप्य है ।

---

१. (क) क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषाम्" (सुश्रुत । उत्तरतन्त्र । अ० ५१)।। ख) स साध्य उक्तः" (च. चि. १७।६७)

२. किं चिदारम्भमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते । निषण्णस्येति शान्ति च स क्षुद्र इति संज्ञितः ।।" (सुश्रुत । उत्तर. । अ० ५१)

गुरुकुल पत्रिका

मार्च - अप्रैल - 1973

'बृहस्पति' का सांस्कृतिक रूप~~

पिण्ड में—बृहस्पति आत्मज्योति-प्रकाशक

—भगवद्दत्त वेदालंकार
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वा

बृहत् सृष्ट्युत्पत्ति में बुद्धि सर्ग का आदिरूप है। बुद्धि सर्ग ज्योतिष्पुञ्ज है, सबका प्रकाशक है। अतः आत्मज्योति को भी यह सर्वोत्तम रूप में प्रकाशित करने वाला है। बृहस्पति के लिए ऋ० ४।५०।५ में आता है कि "[] सप्तरश्मिरधमत् तमांसि" अर्थात् सप्तरश्मि-सप्तेन्द्रिय वाला यह बृहस्पति शरीर व ज्ञानेन्द्रियों के तमों, अंधकारों को धौंकनी देकर बाहिर कर देता है। ऋ० २।२३।२ में आता है, "उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि" जिस प्रकार सूर्य से किरणें बाहिर की ओर निकलती हैं उसी प्रकार बृहस्पति की ज्योति से समग्र ब्रह्म शक्तियाँ तथा मन्त्रादि का प्रकाश होता है। ऋ० २।२४।३ में कहा गया है—"अगूहत् तमो व्यचक्षयत् स्वः" अर्थात् वह बृहस्पति तम को छिपा देता है अर्थात् नष्ट कर देता है और स्वः अर्थात् आत्म तत्व को प्रकाशित कर देता है।

गो उ० ४।११ में कहा गया है कि "यच्चक्षुः सः बृहस्पतिः" अर्थात् जो चक्षु है, प्रकाशक है, ज्योतिरूप है, वह बृहस्पति है। यह बृहस्पति आत्मा की ज्योति को प्रकाशित करने वाला है। आत्मज्योति का प्रकाश किस प्रकार होता है यह हम सामान्य भाषा में दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

स्थूलदृष्टि से मनुष्य को हम दो भागों में बांट सकते हैं। ए

भाग आत्मा और दूसरा भाग प्रकृति। अर्थात् आत्मा प्रकृति तुल्य। मनुष्य में आत्मा को छोड़कर स्थूल शरीर इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जो घटक हैं वे सब प्राकृतिक हैं अर्थात् प्रकृति से बने हैं। आत्मा एक ज्योति है, इस आत्मज्योति का सम्पर्क करके ये इन्द्रियाँ आदि प्राकृतिक तत्व ज्योतिष्मान् हो जाते हैं। इनमें अपनी ज्योति तो होती नहीं, इसलिये ये आत्मज्योति को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। इसको हम लैम्प के उदाहरण से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जिस प्रकार लैम्प में चिमनी चढ़ी होती है और जिस रंग की वह होती है, उसी रंग का प्रकाश बाहिर फेंकती है। और फिर वह चिमनी जितनी अधिकधुंधली होती है,उतना ही कम प्रकाश उससे होता है, इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में विद्यमान इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि आत्मज्योति के लिए चिमनी के तुल्य हैं। ये इन्द्रियाँ आदि जिस रंग में रँगी होती हैं, मनुष्य के अन्दर से वैसा ही प्रकाश बाहिर प्रतिक्षिप्त होता है और वह संसार को उसी रंग में रँगा हुआ देखता है। और ये इन्द्रियां आदि चिमनियां जितनी ज्यादा धुंधली होती हैं उतना ही कम संसार उनके लिए प्रकाशित होता है। और फिर लैम्प में तो एक ही चिमनी होती है परन्तु इस आत्मज्योति के चारों ओर तो तीन चिमनियाँ चढ़ी हुई हैं जिनमें से होती हुई आत्म-ज्योति बहुत ही धुंधली तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है। आत्मज्योति के चारों ओर ये तीन चिमनियाँ इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि हैं। सबसे बाहिर इन्द्रियाँ, फिर मन और फिर बुद्धि। श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ. ४२ श्लोक में कहा भी है कि—

> "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥"

अर्थात् इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे वह आत्मज्योति है।

इस प्रकार आत्मा की ज्योति को बाहिर फेंकने वाली ये तीन चिमनियाँ हैं जो कि एक-दूसरे से धुंधली होती हुई चली गई हैं। बुद्धि से मन ज्यादा धुंधला है और मन से इन्द्रियाँ ज्यादा धुंधली हैं। इस प्रकार आत्मज्योति इनमें छनती हुई बहुत स्वल्प मात्रा में तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है और संसार को प्रकाशित करती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपनी चिमनी के आधार पर संसार को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा करता है और संसार

का वैसा ही ज्ञान उसे होता है। संसार का घटबढ़त्व में साधारण ज्ञान सब मनुष्यों को होता ही है परन्तु वैदिक शास्त्र यह कहते हैं कि इन इन्द्रियों पर आये हुए मल को--जिसे कि वेद की भाषा में वल कहा जाता है—को साफ कर तथा इन इन्द्रियों की शक्ति को अत्यधिक बढ़ाकर दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वेद व अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में सभी इन्द्रियों व मन आदि के सम्बन्ध में अनेकों दिव्यशक्तियों का तथा तद्द्वारा उपलब्ध दिव्यज्ञान का वर्णन मिलता है। वे दिव्य शक्तियाँ वेदों में गौ व उस्रा आदि नामों से वर्णित हुई हैं (ऋ. १०।६७,६८ तथा अन्य फुटकर मन्त्र) इन पर हम आगे मन्त्रार्थ देते हुए विस्तार से विचार करेंगे। ये दिव्यशक्तियाँ इन्द्रियों की अपनी नहीं हैं, ये तो आत्मा की ही अपनी विभूति हैं। जब मनुष्य योगसाधना द्वारा बृहत् ऋत की ओर आरोहण करता है, दिव्यगुरु बृहस्पति के शिष्यत्व में ऊर्ध्वोन्मुख होता है तभी इन की प्राप्ति होती है। मुण्डकोपनिषद् के आधार पर [यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा] प्राण व इन्द्रियों के विशुद्ध होने पर यह आत्मशक्ति विभुत्व को प्राप्त होती है। ये इन्द्रियाँ तो आत्मा की विभूति को प्रतिक्षिप्त करने वाली है और किन्हीं विरले भाग्यशाली आदमियों को ही प्राप्त होती हैं। क्योंकि वे भाग्यशाली योगी व आध्यात्मिक पुरुष अपनी इन चिमनियों को साफ कर देते हैं और जो मैल व आवरण उन पर पड़ा होता है उसे हटा देते हैं। और फिर इनकी योग्यता व शक्ति इतनी बढ़ाते हैं कि आत्मज्योति इन द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलकर सब पदार्थों को प्रत्यक्ष करा देती है।

बृहस्पति सूक्तों में ऐसे कई कथन हुए हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। ऋ. १०।६७।५ में कहा है कि बृहस्पति शिष्य के शयन करते हुए निद्रा के समय अपनी वाक् व ज्योति के गर्जन द्वारा उस पर प्रभाव डालता है और इस प्रकार तीन आसुरी पुरियों का भेदन होकर तीन मस्तिष्करूपी समुद्रों का उद्गम होता है। और इन समुद्रों के उद्गम के साथ ही शिष्य की गौएं अर्थात् दिव्य शक्तियाँ, दिव्य सूर्य. दिव्य उषा तथा तत्सम्बन्धी अर्क ये प्राप्त हो जाते हैं।

अब हम सामान्य भाषा में वेद से अर्वाचीन शास्त्रों के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि इन इन्द्रियों को दिव्य शक्ति सम्पन्न कैसे बनाया जाये? इस सम्बन्ध में दो उपाय हैं जिनका हमें अवलम्बन करना चाहिये। वे निम्न प्रकार हैं—

१. इन्द्रियाँ व मन आदि को शुद्ध बनाया जाये। उन पर मैल व आवरण पड़ा हुआ है, उसे हटाया जाये।
२. इनकी शक्ति को खूब बढ़ाया जाये।

अब हम संक्षेप में इन पर विचार करते हैं।

मल-शोधक व ज्योति-वर्धक सत्वगुण

यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से बनी है। और यह प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है। वे त्रिगुण सत्व, रज और तम नाम से कहे गये हैं। इनके सम्बन्ध में सांख्यदर्शन में आता है कि—

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:"

अर्थात् सत्व, रज और तम नामक गुणों की जो सम अवस्था है, वह प्रकृति कहलाती है। जब तक कि ये गुण सम अवस्था में रहते हैं, तब तक तो सृष्टि नहीं बनती। परन्तु जब इनमें विषमता पैदा हो जाती है, तब सृष्टि का निर्माण शुरू हो जाता है। सृष्टि में कहीं सत्व प्रबल है, कहीं रज बलवान् है और कहीं तम बलशाली है। इस प्रकार सृष्टि में सर्वत्र इन तीनों के बलाबल में विभिन्नता पाई जाती है। सत्व गुण ज्योति व प्रकाश का सुवाहक है। रजोगुण ज्योति को तरह-तरह के रंगों में रँग देता है। और तमोगुण ज्योति व प्रकाश को रोक देता है। इस तरह से इन तीनों गुणों का विविध-विविध प्रकार का मेल, विविध-विविध प्रकार के परिणामों को पैदा करता रहता है। इन्हीं तीनों से सारे संसार का निर्माण हुआ है। हमारा शरीर भी इन्हीं तीनों के मेल का परिणाम है। जिन मनुष्यों में सत्वगुण अधिक है, वे सात्विक पुरुष कहलाते हैं। जिन में रजोगुण अधिक है, वे रजो गुणी होते हैं। और जिनमें तमोगुण अधिक है, वे तामसिक होते हैं। हमारे शरीर में मन, बुद्धि आदि प्रत्येक अंग भी इन्हीं के घट-बढ़ मेल व आवरण का परिणाम है। इन सत्व, रज, तम का शरीर-~~शरीर~~ में सन्तुलन प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि शरीर में निर्माण व विनाश-प्रक्रिया हर समय हो रही है। इसलिए प्रश्न यह है कि दिव्य शक्ति प्राप्त करने के लिए हमें सत्व, रज और तम में से किसको बढ़ाना चाहिए? इन तीनों में तम[1] तो स्पष्ट रूप से दिव्य शक्तियों को घेरने वाला है। इससे प्रमाद, मोह और आलस्य ही बढ़ते हैं। प्रकाश तो इसमें बिल्कुल है ही नहीं। इसलिए दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति के लिए तम को बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता। आगे रहा रजोगुण। दिव्य प्रकाश की

१- अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १४ अ० श्लोक १३

प्राप्ति में यह रजोगुण भी बाधक है। क्योंकि दिव्य ज्ञान के लिए यह भी एक आवरण है। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३।३७-४० श्लोक में रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध आदि को ज्ञान का आवरण बताया गया है। वहाँ आता है कि, "काम', क्रोध इत्यादि ये महापाप्मा हैं। जिस प्रकार धूआँ अग्नि को घेर लेता है, दर्पण को मैल घेर लेता है और गर्भ को जिस प्रकार उल्व [जरायु] घेरे रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को ये काम-क्रोध इत्यादि घेरे रहते हैं। ज्ञानी के ज्ञान को ये घेरने वाले हैं। इनका स्थान शरीर में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ हैं।"

इसलिए रजोगुण भी दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति में सहायक नहीं है। आगे रहा सत्त्व। यह स्पष्ट रूप में दिव्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि "जब[2] सत्त्व की वृद्धि होती है तब इस शरीर के सब इन्द्रिय-द्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है।" इसलिए यह निश्चय से कहा जा सकता है कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर सत्व की वृद्धि करनी चाहिए।

अब विचारणीय है कि सत्व की वृद्धि किस प्रकार करें? इस सम्बन्ध में कई उपाय बताए जा सकते हैं। उनमें एक उपाय भोजन भी है।

१- काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
—गीता अ० ३।३७-४० श्लोक

२- सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ —अ० १४।११ श्लोक
सत्वात् संजायते ज्ञानम्। —१५ अ० १७ श्लोक

शरीर-विज्ञान शास्त्र का यह मत है कि मनुष्य-शरीर में रात-दिन निर्माण व विनाश-प्रक्रिया चल रही है। इस निर्माण व विनाश-प्रक्रिया का आधार अन्न है। इसलिए क्या निर्माण करना और क्या विनाश करना अर्थात् शरीर में से बाहिर करना, यह सब अन्न पर आश्रित है। क्योंकि इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आदि जो कि आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने वाले हैं, इनका निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिए यदि सात्विक अन्न होगा तो स्पष्ट रूप में सत्वगुण को उत्पत्ति व वृद्धि होगी और ये इन्द्रियाँ आदि भी सात्विक बन जायेंगी अर्थात् सत्व से आवेष्टित होंगी। ऐसी भाँति अन्न के द्वारा मन भी सत्वयुक्त होता रहता है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषत् ६।५।१।३ में आता है कि—

"अन्नमशितं त्रेधा विभजते······योऽणिष्ठस्तन्मनः"

अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त होता है, उसका जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह मन में जाता है इसी प्रकार इन्द्रियाँ व बुद्धि आदि का भी निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिए हमें इनको सात्विक बनाने के लिए सात्विक अन्न ही खाना चाहिए। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि अन्न से मन के निर्माण का भाव यह नहीं है कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न से इसकी उपत्ति हुई। वैदिक साहित्य में तो मन को 'अमृत' माना है। आत्मा के साथ यह मन प्रायः लगा रहता है। इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न द्वारा उसका निर्माण हुआ। इसका भाव यह है कि अन्न के सम्पर्क से मन की शक्ति का उपचय और अपचय अर्थात् वृद्धि और ह्रास होता रहता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अन्न से मन व इन्द्रियों आदि का सदा निर्माण होता रहता है। अतः दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों को चाहना वाले मनुष्य को सात्विक अन्न द्वारा अपने मन आदि को सात्विक बनाना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विजातीय तत्व या मैल नहीं आने देना चाहिए।

सत्व गुण को प्रबल बनाना

ऊपर हम यह देख चुके कि दिव्य-शक्ति चाहने वाले मनुष्य को सात्विक अन्न के भक्षण के द्वारा अपने मन आदि को सात्विक बनाना चाहिए। परन्तु सत्व को प्रबल बनाने के अन्य भी कई उपाय हैं। इनको

हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो केवल रज और तम के विनाशक उपाय हैं। रज और तम पर प्रहार करने वाले ये उपाय उग्र व कठोर हो सकते हैं। दूसरे कुछ उपाय प्रमुख रूप से सत्व की वृद्धि ही करने वाले हो सकते हैं। हठयोग से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी उग्र व कठोर क्रियाएं हैं, वे मलों का नाश करने वाली हैं, विरेचन व शोधन करने वाली हैं। परन्तु भगवान् की भक्ति करना, शान्ति, समता व स्थिरता आदि को बनाए रखना, दिव्य भावनाओं को जागृत करना, व दिव्य गुरु की शक्ति इत्यादि उपाय प्रमुख रूप से सत्व को बढ़ाने वाले हैं और गौण रूप से रज और तम के विनाशक भी हैं। इसी प्रकार और भी कई उपाय हो सकते हैं, जिनको कि वेद के शब्दों में हम आगे दिखायेंगे।

बृहस्पति और गौएँ तथा उनका उद्धार

बृहस्पति देवता-सम्बन्धी ऋग्वेद का सम्पूर्ण १०।६८ सूक्त तथा अन्य कई फुटकर मन्त्र विशेष तौर पर गौ के स्वरूप को दर्शाते हैं और यह भी दर्शाते हैं कि वल आदि असुरों द्वारा छिपायी हुई गौओं को बृहस्पति किन-किन उपायों से बाहिर निकालता है। १०वें मण्डल के इस ६८ सूक्त पर यदि समग्ररूप से दृष्टिपात किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूक्त में वर्णित गौ सामान्य पशु नहीं है, ये दिव्यज्ञान की किरणें हैं, दिव्य शक्तियाँ हैं जो कि वलरूपी मल व आवरण से दबी हुई हैं। आलंकारिक भाषा में यह भी कह दिया है कि वल असुर है और उसने गौओं को अंधेरी गुफा में छिपाया हुआ है। बृहस्पति इन्हें उस वलरूपी असुर की गुफा से बाहिर निकालने के लिए अनेकों उपाय करता है। यह विस्तार से सूक्त पर विचार करते हुए प्रदर्शित करेंगे। श्री अरविन्द का कहना है कि "गौएँ उषा की किरणें हैं, सूर्य की गौएँ हैं, वे भौतिक शरीरधारी पशु नहीं हैं, लुप्त गौएँ सूर्य की लुप्त हुई किरणें हैं।" और यह भी लिखा है कि "परन्तु साथ ही वेद की उस भाषा से इस बात का भी संकेत मिलता है कि यह सूर्य दिव्य ज्योति को देने वाली शक्ति का प्रतीक है और स्वः दिव्य सत्य का लोक है।" इसी प्रकार श्री अरविन्द ने गौ, सूर्य तथा उषा आदि प्रतीकों पर बहुत कुछ लिखा है। ऋ० १०।६८।३ में इन दिव्य ज्योतिरूप गौओं को निम्न विशेषण दिये गये हैं।

१. साध्वर्याः—साधु पुरुष से प्राप्य अथवा साधुमार्ग से प्राप्य।
२. अतिथिनीः—जिनकी प्राप्ति की कोई तिथि निश्चित नहीं है।

३. इषिराः—गतिशील।
४. स्पार्हाः—स्पृहणीय, वाञ्छनीय।
५. सुवर्णाः—उत्तम वर्णवाली, अथवा सुवर्णसमान ज्योतिर्मय।
६. अनवद्यरूपाः—अनिन्दित रूप वाली।

गौ के इन उपर्युक्त विशेषणों पर विचार या विवेचन मन्त्रार्थ के समय किया जायेगा। अब हम सामान्य दृष्टि से इन पर विचार करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता (१४।११) में कहा गया है कि "जब सत्व की वृद्धि होती है, तब इस शरीर के सब इन्द्रियद्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है।" यही इन्द्रियों का दिव्य प्रकाश है या दूसरे शब्दों में दिव्य शक्तियाँ हैं। सामान्य प्रकाश तो सर्वसाधारण मनुष्यों की इन्द्रियों में होता ही है। परन्तु सत्व की वृद्धि होने पर जो प्रकाश पैदा होता है, वह सामान्य अवस्था के प्रकाश से भिन्न ही होता है। वास्तव में यह प्रकाश आत्मज्योति का है। सत्व की वृद्धि होने पर यह और भी विस्तृत व व्यापक हो जाता है। जिस समय यह आत्मज्योति बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि पर आकर पड़ती है, उस समय यह आत्मज्योति आत्मा की न कही जाकर बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि की कही जाती है। जिस प्रकार ओट में छिपे भगवान्[1] की ज्योति सूर्य पर आकर पड़ती है और सूर्य को ज्योतिष्मान् बनाती है। उस समय वह भगवान् की ज्योति न कही जाकर सूर्य की ज्योति कहलाती है। और जिस प्रकार सूर्य की ज्योति चन्द्रमा पर आकर पड़ती है, उस समय वह सूर्य की न रहकर चन्द्रमा की ज्योति कहलाती है। इसी प्रकार आत्मज्योति मन, बुद्धि आदि दर्पणों पर पड़कर उस दर्पण की ज्योति करके कही जाती है। ब्रह्माण्ड में भगवान् की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले पदार्थ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् आदि देवता करके व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् शरीर में आत्मारूपी सूर्य की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले जो अंग हैं, उनका भी वैदिक साहित्य में सूर्य आदि नामों से वर्णन किया गया है।

वेदों व अन्य शास्त्रों में आता है कि एक-एक देवता शरीर व इन्द्रिय-

---

१- तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० ६।१५
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः। ऋ० १।११५।१

गोलकों में आकर बैठा हुआ है। ऐतरेयारण्यक[1] में आता है कि 'अग्नि वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हुई है, वायु प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट है, सूर्य चक्षुशक्ति बनकर आँखों में प्रविष्ट हुआ है, दिशाएँ श्रोत्रशक्ति बनकर दोनों कानों में प्रविष्ट हैं और चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया है। इसी प्रकार अन्य सब देव भी शरीर में शारीरिक शक्ति बनकर प्रविष्ट हुए हैं। जिस प्रकार बाह्य जगत् में ये सब देवता उस परमात्म-ज्योति के द्वारा ज्योतिष्मान् होते हैं, इसी प्रकार शरीर में ये आत्मज्योति से ज्योतिष्मान् होते हैं।

इन्द्रियाँ देवताओं की गौएँ हैं

शरीर में इन्द्रिय-स्थानों पर बैठे हुए इन देवों की ज्योतियों को वेद की परिभाषा में देवताओं की गौएँ कहा गया है। इसका भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मनुष्यों को गौएँ दूध पिलाती हैं और सूर्य की किरणें ओषधि, वनस्पति आदि में से रस लेकर सूर्य को पिलाती हैं, इसी प्रकार शरीर में विद्यमान ये इन्द्रिय-किरणें बाह्य जगत् से तत्तत् सम्बन्धी ज्ञान-रस प्राप्त कर अपने देवताओं को पान कराती रहती हैं। इसलिए वेद की परिभाषा में इन्हें 'गौ' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है। इन्हें इन्द्रिय-किरण कह लेवें, इन्द्रिय-प्रकाश कह लेवें, इन्द्रिय-शक्तियाँ या देवताओं की गौएँ कह लेवें बात एक है। अब आगे हम इन्हें 'गौ' नाम से भी सम्बोधित करेंगे। मन्त्रों में इन इन्द्रिय-किरणों व शक्तियों को देवों की गौएँ कहा गया है। और यह भी आता है कि 'वल' जिसको ब्राह्मण-ग्रन्थों में असुर कहा गया है, इन गौओं को देवताओं से छीनकर छिपा देता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस आधार पर दो एक कथानक भी आते हैं, जिनका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। यह 'वल' इन्द्रिय-ज्योतियों पर पड़ा हुआ मल व आवरण है। वैदिक-साहित्य में आता है कि वलरूपी मल या आवरण को हटा देने पर इंन्द्रिय-शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। और इनको नाना साधनों द्वारा इतना बढ़ाया जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में इनका अपने क्षेत्र

१- अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्'' चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। ऐ० २।४।२

का कोई भी तत्व ऐसा नहीं बचता जो कि इनकी पहुंच से बाहर हो। परन्तु संसार में हम यह देखते हैं कि साधारण मनुष्यों को इन इन्द्रियों में ऐसी कोई दिव्य ज्योति व दिव्य शक्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि उनकी इन्द्रियाँ आदि चिमनियाँ बहुत मलिन व धुंधली होती हैं। जिस प्रकार काला व मलिन शीशा सूर्य की ज्योति को ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार धुंधली व मलिन इन्द्रियाँ आत्मज्योति को ग्रहण ही नहीं कर सकतीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसे मनुष्यों में दिव्य ज्योति होती ही नहीं। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि आत्म-ज्योति तो सबके अन्दर है, पर साधारण मनुष्यों के दर्पणों पर 'वल' अर्थात् मैल का जो एक आवरण आया हुआ होता है। मैल के जमते-जमते जो एक पहाड़ बन गया है, इसके कारण वह बाहिर प्रकट होने नहीं पाती।

दिव्य गुरु बृहस्पति द्वारा शिष्य की दिव्य शक्तियों का उद्घाटन

अब प्रश्न यह है कि इन ज्योतियों अर्थात् देवताओं की गौओं को वलरूपी पहाड़ के नीचे से निकाले कौन ? साधारण मनुष्य में तो यह शक्ति होती नहीं कि वह वल रूपी असुर के फन्दे से गौओं को छुड़ा सके। और फिर उसे पता भी नहीं होता कि ऐसी कोई दिव्य शक्ति होती भी है कि नहीं। इसलिए प्रायःकर साधारण मनुष्यों में अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विषयों में श्रद्धा का अत्यन्त अभाव होता है। परन्तु जिन मनुष्यों के अन्दर इन विषयों के प्रति श्रद्धा होती है उनके लिए वेद बृहस्पति-सूक्तों द्वारा यह कहता है कि उन्हें ऐसे गुरु की अन्वेषणा करनी चाहिए जो कि दिव्य-शक्ति सम्पन्न हो। और समित्पाणि होकर उसको गुरु धारण करना चाहिए। परन्तु किसी दिव्य-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को गुरु धारण करना भी कोई मामूली बात नहीं है। वेद के शब्दों में यदि हम इसको और भी स्पष्ट कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि, उसे उस दिव्यगुरु का गर्भ बन जाना चाहिए। अर्थात् गुरु में अपनापन खो देना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य किसी दिव्य व्यक्ति को अपना गुरु बना लेता है, तब गुरु सबसे पहले यह देखता है कि शिष्य में कौनसी शक्ति सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। क्योंकि संसार में हम देखते हैं कि इस जगत् में भिन्न-२ शक्तियों वाले मनुष्य होते हैं। किन्हीं में कोई शक्ति बढ़ी हुई होती है, तो किन्हीं में कोई शक्ति। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि किन्हीं शक्तियों पर तो आवरण की

तह मोटी है तो किन्हीं पर सूक्ष्म व विरल होती है। कई ऐसे भी मनुष्य हैं या यूँ कहना चाहिए कि प्रायः अधिकतर ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनकी सभी शक्तियों पर आवरण की मोटी तह जमी हुई होती है। उस तह को हटाने के लिए तो बहुत काल लग सकता है और जन्म-जन्मान्तर तक लग सकते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों में किसी शक्ति पर बहुत ही सूक्ष्म आवरण होता है, उसको तो सामान्य प्रहार से फोड़ा जा सकता है। इसलिए सबसे प्रथम गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगाता है कि कौन-सी शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है। मन्त्र में आता है कि—

"अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्"

—ऋ० १०।६८।८

वह बृहस्पति पत्थर से ढके हुए उस दिव्य ज्ञान [मधु] को इस प्रकार देख लेता है, जिस प्रकार उथले पानी में मछली देख ली जाती है।

और जिन शक्तियों पर आवरण की तह सूक्ष्म होती है वे शक्तियाँ मनुष्य में खूब बढ़ी हुई होती हैं। वे उस मनुष्य में चुप नहीं बैठतीं। बार-बार बोलती हैं। ऐसी शक्तियों के सम्बन्ध में वेद में कहा गया है कि—

"बृहस्पतिरमत त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्"

—ऋ० १०।६८।७

वह बृहस्पति उन शक्तियों को जान लेता है जो कि गुफा में छिपी हुई बोल रही हैं।

इस प्रकार सबसे प्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि, शिष्य के अन्दर छिपी हुई शक्तियों में कौन-सी ऐसी शक्ति है जो कि सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। सर्वप्रथम उसी को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि एक शक्ति के बाहिर आने पर अन्य शक्तियाँ भी सुगमता से बाहिर आ सकती हैं। दिव्य गुरु ही यह काम सुचारु रूप से कर सकता है। जब गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगा लेता है कि आवरण के नीचे दबी अमुक शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है, तो वह अपनी शक्ति के प्रभाव से सुगमता से उसे बाहिर निकालता है। और उस स्थान पर उस शक्ति का बीज बोता है जहाँ कि आवरण का पहाड़ न

खड़ा हो। इसका भाव यह है कि गुरु को यह चाहिए कि सबसे पहले शिष्य के उस व्यसन व आवरण पर सीधा प्रहार न करे, जो व्यसन व आवरण बढ़ते-बढ़ते पहाड़ का रूप धारण कर चुके हैं। उन पर सीधा प्रहार करने का यह परिणाम निकलेगा कि शिष्य चोरी छिपे उस व्यसन की पूर्ति करेगा। गुरु को यह न पता चल जाये कि मैं निषिद्ध व्यसन की पूर्ति कर रहा हूं, इसको छिपाने में वह असत्य भी बोलेगा। और इस प्रकार शनैः-शनैः उसकी गुरु के प्रति श्रद्धा भी जाती रहेगी। इसलिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर गुरु को यह चाहिए कि वह शिष्य की उन बातों को अपील करे जो श्रेष्ठ हों। पहले उनको समुन्नत करे। जब श्रेष्ठ बातें बहुत बढ़ जायेंगी तो अन्य सब व्यसन स्वयं जाते रहेंगे। इसी दृष्टि से वेद में बृहस्पति के सम्बन्ध में कहा कि—

"बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः"

—ऋ० १०।६८।३

अर्थात् बृहस्पति ने 'बल' के पर्वतों के नीचे से दिव्य शक्तियों को निकालकर और उनसे दूर हटाकर शिष्य में उनका बीज-वपन किया। जिस प्रकार किसान अन्न का भण्डार भरकर रखने वाले वैश्यों से जौ आदि बीज लेकर खेत में बोते हैं।

दिव्य शक्ति का भन्डार सब मनुष्यों के अन्दर निहित है। केवल मात्र आवरण को हटाकर उसको बाहिर प्रकाश में लाना है। यह कार्य दिव्य गुरु ही बहुत अच्छी प्रकार कर सकता है। इसलिए मन्त्र में दिव्य गुरु बृहस्पति का यह कार्य बताया है। अब प्रश्न यह है कि जब गुरु ने वासनाओं व व्यसनों से आक्रान्त शिष्य की शक्तियों को उनसे पृथक् कर अन्यत्र बीज-वपन कर दिया तो वे शक्तियाँ कब वृक्ष रूप में बढ़कर पुष्पित व पल्लवित होंगी? अर्थात् वे शक्तियाँ कब इतनी बढ़ जायेंगी कि संसार की कोई भी विरोधी शक्ति उन्हें दबा न सके और ब्रह्माण्ड में उनकी गति अव्याहत हो। इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं कि एक तो शिष्य ने गुरु के प्रति अपने आपको कितना समर्पण किया है। और दूसरे उसका अपना प्रयत्न व अभीप्सा कितनी है? प्रथम बात के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गुरु का तीव्रतम प्रयत्न उसी अवस्था में हो सकता है, जब कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे। और वेद के शब्दों में गुरु का गर्भ बन जाये। इसी दृष्टि से ऋ० १०।६८ सू० में गौ और बलासुर का वर्णन करते हुए द्वितीय मन्त्र में कहा कि—

"जने मित्रो न दम्पती अनक्ति"

अर्थात् (मित्रः) निर्माता बृहस्पति (जने) जनन कार्य में दम्पती की तरह अपने आपको व्यक्त करता है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष पुत्ररूप में अपने आपको व्यक्त करके दम्पती भाव को चरितार्थ करते हैं, उसी प्रकार यह बृहस्पति शिष्य के निर्माण में अपने को दम्पती की तरह समझता है। इसलिए गुरु की पूर्ण सहायता लेने के लिए आवश्यक है कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे और उसे पूर्ण समर्पण कर देवे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न हो सकता है कि शिष्य में पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना भरने के लिए गुरु को यह चाहिए कि वह अपनी दिव्य शक्ति के प्रभाव से या अन्य उपायों से शिष्य में यह विश्वास पैदा कर देवे कि उसका उद्धार यदि होना है तो यहीं होना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत अन्त तक गुरु का भी यह काम है कि वह शिष्य को समर्पण के लिए अनुकूल बनावें। वेद में अनेकों स्थलों पर ऐसा वर्णन भी आता है। परन्तु पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि गुरु का गर्भ बन जाने का क्या भाव है? प्राणियों में जब गर्भ-स्थिति होती है तो पहले पहल वह गर्भ "कलल" रूप में होता है। स्वर्ण से कुण्डल आदि बनाने हों, लोहे से मशीनरी बनानी हो तो पहले से सोने व लोहे को पिघलाकर साँचे में डाला जाता है। ऐसी अवस्था में ही लोहे व सोने को जैसे साँचे में डाला जायेगा, वैसा वे रूप धारण कर लेंगे। उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी को जब अपना गर्भ बनाता है, तब ब्रह्मचारी की वह अवस्था बहुत कच्ची होती है। इस समय वह बहुत सख्त व दृढ़ नहीं होता। इसलिए इस समय शिष्य को जैसी शिक्षा दी जायेगी, वैसा वह बन जायेगा। फिर शिष्य के बनाने में आचार्य का तीसरा स्थान है। (मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद) कुछ न कुछ माता-पिता से वह संस्कार लेकर आता है। इसलिए आचार्य को भी उसको ठीक-ठीक परिमार्जित व शिक्षित करने में बहुत कठिनाई होती है। परन्तु जो मनुष्य बड़ा होकर अध्यात्म में जाना चाहता है, वह एक प्रकार से पूर्ण परिवर्तन करना चाहता है। उसके लिए गर्भस्थ कलल के समान कोमल बनना अति दुष्कर है। क्योंकि उसके अपने विचार परिपक्व हो चुकते हैं। कुछ सिद्धान्त बन चुके होते हैं। और आदतें दृढ़मूल हो चुकती हैं, जिनको छोड़ना आसान काम नहीं है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को सुकोमल बनाने के लिए कुछ तो परिस्थिति ठोकर देती हैं, जिससे उसके परिपक्व विचार व दृढ़ आदतें चकनाचूर हो जाती हैं, ग्रन्थियाँ टूट-फूट जाती हैं, उस समय मनुष्य में एकदम परिवर्तन आता है। परन्तु शिष्य को कोमल बनाने में गुरु बहुत बड़ा सहायक है। वेद में आता है कि—

"तद् देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृढह्राव्रदन्त वीडिता:"

—ऋ० २।२४।३

अर्थात् बृहस्पति ने जब देवों (इन्द्रियों) को देवतम अर्थात् और भी दिव्य बनाना चाहा तो जो अपने अभ्यस्त बातों व आदतों में दृढ़ थे, उन्हें शिथिल कर दिया और जो बलवान् थे, उन्हें कोमल कर दिया। इन्हीं बातों को अन्य मन्त्रों (ऋ० २।२४।२,४) में भी कहा गया है।

इस प्रकार आचार्य भी अपनी दिव्यशक्ति द्वारा शिष्य की परिपक्व आदतों को—जो कि अध्यात्म मार्ग में बाधक हैं, दूर करने का प्रयत्न करता है। शिष्य को यह चाहिए कि वह इन असुरों, वासनाओं आदि से लड़ने के लिए गुरु की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने देवे। उसका अपनापन कुछ न रहे। इसलिए वेद में कहा है कि "भरे-भरे अनुमदेम जिष्णुम्" ऋ० १०।६७।६ हम प्रत्येक संग्राम में उस जयशील बृहस्पति के कार्यों का अनुमोदन करें अथवा उनके अनुकूल रहते हुए शत्रुओं के विनाश में हर्षित हों। इस प्रकार गुरु का प्रयत्न व शिष्य का प्रयत्न ये दोनों बातें होने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस दिन या तिथि को ये इन्द्रियाँ असुरों के पाशों से अवश्य छूट जायेंगी। इसलिए वेद में इन्हें 'अतिथिनी' कहा है। अर्थात् इनके प्रकट होने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। परन्तु यह निश्चित है कि प्रयत्नशील व्यक्ति को ये अवश्य प्राप्त हो जायेंगी। इन्द्रियों में दिव्यता प्राप्ति की प्रथम शर्त यही है कि वे निर्मल व वासना-रहित हो जायें।

गुरुकुलपत्रिका

जनवरी- फरवरी- मार्च

१९८७

Arya Bhatt, 1982, Vol. No. 1,

Some Mathematical Operations in Ancient India

—Vijayendra Kumar
Reader, Deptt. of Mathematics, G. K Uni. Hardwar
—Km. Sarita Rani

In the ancient period the ways of performing mathematical operations were different from those in which are performed at present time. Modern methods are consequences of a series of development and improvements in ancients methods. Modern methods of performing mathematical operations are well known. In this article methods of performing mathematical operations in ancient periods are being described.

Following mathematical operations were *generally* performed on numbers by ancient Indian mathematicians : (1) addition of numbers, (2) Subtraction of one number from other, (3) multiplication of numbers, (4) division to one number by other, (5) taking square of a number, (6) taking square root of a number, (7) taking cube of a number. (8) taking cube root of a number.

There are in general at least two ways of performing each of the above stated operations : (a) The ancient Indian method (b) Modern method. Our aim in this article is to discuss the methods and compare them. First of all we take operations of addition.

FIRST METHOD

The numbers are written in a vertical column (each number horizontal) one above the other in order, then below the last number a horizontal line is drawn. Unit places numbers in one vertical line, ten places in other one vertical line etc. First of all numbers on unit places are added thus sum of numbers on unit places is obtained. After this sum of numbers on ten places is determined, in the same way the sum af numbers on hundred place, thousand place are determined. Process is continued till all given numbers are considered. Given below is an example from Bhaskar's 'LILAWATI'.

अये बाले लीलावति मतिमति ब्रूहि सहिताग्द्विपञ्च
द्वात्रिंशत्त्रिनवति शताष्टादशदश ।
शतोपेतामेनानयुत वियुतांश्चापि वदमे यदिव्यक्तेयुक्तिव्य
कलनमार्गे सि कुशला ॥

The mantra means that what is the sum of 2, 5, 32, 193, 18, 10 and 100. What will be the remainder if the sum be subtracted from 10000.

The numbers are written in the following form :

```
  2
  5
 3 2
1 9 3
 1 8
 1 0
1 0 0
.........
3 6 0
.........
```

The sum of numbers on unit places 2, 5, 2, 3, 8, 0, 0, is 20, in this number on unit place is 0, write it in the unit place and the number of ten places is 2 add it with the other numbers on the places. Thus sum for ten place is 2+3+9+1+1+0 i. e. 16. Thus 6 on ten place

and 1 on hundred place. Add 1 with other numbers on hundred place thus on hundred place we will write 1 + 1 + 1 i. e. 3. Thus the sum is 360.

SECOND METHOD

This is reverse process of addition. In this sum of the numbers on extreme left is determined first, then the process is continued from left to right. Given below is an example of appl, ing this process. To find the sum of numbers in example given above we write them as in first case.

```
      2
      5
    3 2
  1 9 3
    1 8
    1 0
  1 0 0
 ------
  2
  1 4
    2 0
 ------
  3 6 0
```

EXPLANATION

The sum of numbers on hundred place is 2. The sum of the numbers on ten place is 14. The sum of numbers on unit place is 20. The sums are written on appropriate places and then added.

OPERATION OF MULTIPLICATION

According to Sri Bhaskaracharya :

गुण्यान्त्यमंकंगुणकेनहन्या दुत्सारितेनैवमुपन्ति मादोन् ॥

According to Sri Dharacharya :

विन्यस्याधो गुण्यं कपाटसन्धिक्रमेण गुणराशेः ।

गुणये द्विलोमगत्या नुलोममार्गेणवा क्रमशः ॥

उत्सार्योत्सार्य ततः कपाटसंधिर्भवेदिदं करणम् ।
तस्मिंस्तिष्ठति यस्मात्प्रत्युत्पन्नस्तनस्ततस्त्य: ॥

Write the number to be multiplied below the multiplier number and determine the product by Direct (Anulome) method and Reverse (Vilome) method.

Consider the product of 135 and 12 by direct method (Anulome Vidhi) :

Multiplier (Gunaka)	12	= B (Say)
The number to be multiplied (Gunya)	135	= A (Say)

By the number 5 on unit place of A multiply the numbers of B. The product of 5 with 2 is 10, write 0 of 10 below 2 and carry 1 on left and product of 5 with 1 is 5 so the product of 5 with B is 60. Replace 5 by 60 now our result after above mentioned operations are $\begin{matrix} 12 \\ 1360 \end{matrix}$. Shift the numbers of B by one place towards left so write the numbers as $\begin{matrix} & 1 & 2 & \\ 1 & 3 & 6 & 0 \end{matrix}$

By 3 multiply numbers of B. The product of 3 with 2 is 6, this 6 added to 6 of 1360 gives 12. Here 2 will replace 6 of 1360 and 1 will be added to 3 obtained by 3 × 1 thus 3 of 1360 will be replaced by 3 + 1 i.e. 4. Now we have obtained :

$$\begin{matrix} & 1 & 2 & & \text{(B)} \\ 1 & 4 & 2 & 0 & \end{matrix}$$

Now shift B by one place to left and write as :

$$\begin{matrix} 1 & 2 & & & \text{(B)} \\ 1 & 4 & 2 & 0 & \end{matrix}$$

Take the product of 1420 with numbers of (B). 1×2=2, below 2 is written 4, added this 2 in 4 and thus get 2 + 4 i. e., 6, replace 4 of 1420 and it becomes 1620 and product of 1 with 1 of B is 1 this will be written below 1 of B i.e., in place of 1 of 1620. Hence finally we get 1620.

SECOND METHOD OF MULTIPLICATION :
UTKRAM (VILOME) VIDHI.

The numbers are written as follows :

Multiplier	1	2		(B)
To be multiplied		1	3 5	(A)

Firrt of all, the number on extreme left of (A) i.e., 1 is multiplied with numbers of B. Product of 1 with 2 is 2, this will be written below 2 of B. Product of 1 with one of B is 1 this will be written below 1 of B. Thus we have

```
1 2          (B)
1 2 3 5
```

Now (B) will be shifted to one place to right and will be written as follows :

```
  1 2        (B)
1 2 3 5
```

The product of 3 with 2 of B is 6 this will be written below 2 of B and product of 3 with 1 of B is 3 this will be added in 2 which is number already there below 1 thus we get

```
  1 2        (B)
1 5 6 5
```

Now B will be shifted to right by one place and now we write

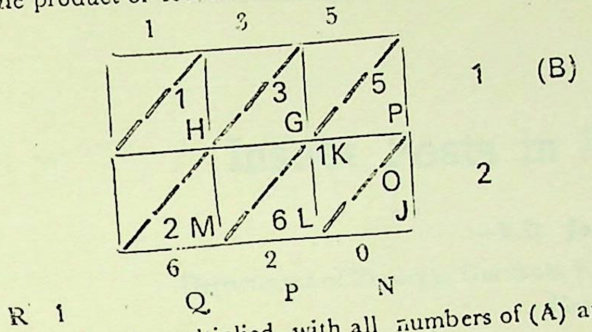
```
    1 2      (B)
1 5 6 5
```

Product of 5 with 2 of B is 10, 0 of this 10 will be put below 2 and one wiil be added to 5. 1 i.e. 5+1=6 will be written below 1 of (B) and will be added to 6 given 6+6=12, 2 of this 12 will replace 6 and 1 be added of 5 of 1565 thus giving 6 for circled 5 of 1 5 6 5 thus we get the product 1 6 2 0.

THIRD METHOD OF MULTIPLICATION :

In this method the number which is to be multiplied is written in a horizontal line and multiplier in a vertical line thus forming the sides of a rectangle. Then squares are drawn below each number in horizontal line in front of numbers in vertical line. Draw the

diagonals of the squares. To explain the process we consider again the product of 135 and 12



1 of (B) is multiplied with all numbers of (A) and the product is written in lower parts of squares below the diagonals. Thus products 5, 3, 1 are written on places now the product of 2 of (B) with 5 is 10. This is to placed at place J, O is put there and 1 is carried in upper part of this diagonal at place K. Product of 2 of (B) with 3 of (A) is 6 this will be written on place L. Product of 2 of (B) with 1 of (A) is 2. This will be written at place M. To write the result the sum of the numbers in channel is wtitten at the bottom of channel thus number 0 at N, 6+1+5=12, 2 at P and 1 will be added to numbers in GM channel i.e. 3+2+H=6, 1 at R thus giving sum 1620.

FOURTH METHOD :

This method is called (Sthan—Sthan Gunana). Consider the product of 135 and 12. The description of the procedure is as follows. In the first line write 135 and in second line 12 as below.

```
  1 3 5
1 2
--------
  1 2
    3 6
      6 0
--------
  1 6 2 0
--------
```

Draw horizontal line below 12. Multiply 1 with 12, the result is 12, write 1 below 1 and 2 on the right of 1. Now the product of 3 with 12 is 36. Write 3 below 3 and 6 on the right of it. Product of 5 with 12 is 60 write 6 below 5 and 0 on the right of 6. Add in columns and get the result 1620.

FIFTH METHOD :

This method is called Gomutrika Vidhi. To illustrate this method consider the product of 3 4 5 6 and 5 4 3 2. In this process the number to be multiplied is written number of times equal to digits in the multiplier in the following way and number of multiplier in a vertical line.

5	3 4 5 6
4	3 4 5 6
3	3 4 5 6
2	3 4 5 6

The partial product are written and added as follows :

1 7 2 8 0
1 3 8 2 4
1 0 3 6 8
6 9 1 2
1 8 7 7 2 9 9 2

Above stated methods were used for multiplication of numbers in ancient period in India.

REFERENCES : 1) Lila Vati by Bhaskaracharya.

2) Hindu Ganit Ka Itihas by Dr. K.P. Shukla,

3) History of Mathematics by D.E. Smith.

4) Vedik Mathematics Jagadguru Swami Sri BHARAT KRISHNA Tirat ji Maharaja.

Arya Bhatt, 1988 V. 1

Insect Pests in Agriculture

—B.D. Joshi & S.D. Sharma
Department of Zoology, Gurukula Kangri Vishwavidyalya
Hardwar—249 404 India

According to Food and Agriculture Organisation (FAO) of United Nations Organisation (UNO) approximately 10% agricultural yield is lapsed by the insect pests in the fields and after the harvesting in storage. In India, despite loud propaganda on national level to eliminate the insect pests it is more than 10% and even greater in the interior parts of the country where the agriculture technology is not so advance.

In India, there are mainly three seasons *viz* Winter, Summer and Rainy. Different crops i.e. Rabi, Kharif and Jayad are grown in according seasons. But it is a sad fact in our country that approximately every crop has its enemy in the form of insects. Though, some more resistant varieties of different crops have been worked out by our agricultural scientists, even then it is well known that there is no variety which is perfectly safe.

INSECTS WITH DIFFERENT MODES OF DAMAGE

Insects cause harm in several ways to the crops. Direct losses to the plants are caused by the insect pests like leaf eater, defoliators, leaf miners, leaf rollers, stem and root borers, sap suckers, bark and wood feeders, fruit destroyers, seed feeders and

ARYA - BHATT

Vigyan - Patrika.

Dec — 1988 —

March — 1989

-24
24

वेद और ब्रह्माण्ड विज्ञान

डा० कैलाशनाथ तिवारी, इटावा

वेद आदिकाल से ही कवियों, मनीषियों तथा ऋषियों की क्रान्तदर्शिनी प्रज्ञा के चिन्तन और मनन का विषय रहे हैं जिनसे ज्योतिष आदि शास्त्रों के विपुल आर्ष साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। अर्वाचीन मनीषियों और विद्वानों ने भी विविध दृष्टिकोणों से पर्याप्त अनुसंधान करके वेदमन्त्रों के अनेक अर्थों एवं गूढ़ तथ्यों के उद्घाटन का प्रयास किया है तथापि वेदमन्त्रों में सृष्टि के अनेक ऐसे अस्पृष्ट एवं गूढ़ रहस्य विद्यमान हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं।

वेद मन्त्रों में विभिन्न वैदिक देवताओं का वर्णन विविध रूपों में हुआ है जिनके आधार पर विविध प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। वेदमन्त्रों में प्राप्त जिज्ञासाओं तथा इन्द्र, वरुण, यम, सूर्य, उषा, तथा अंगिरस आदि के विषय में प्राप्त कतिपय वर्णन खगोल विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

ऋग्वेद में समाजवाद की परिकल्पना

डा० हेमलता विद्यालंकार, भागलपुर

प्रस्तुत निबन्ध में ऋग्वेद में समाजवाद से सम्बन्धित तथ्यों को उजागर करने का प्रयत्न किया गया है।

वैदिक उषा के स्वरूप का वैज्ञानिक विवेचन

डा० अवतारकृष्ण गुर्टू, मथुरा

वेदों में उषा सूक्तों की पर्याप्त संख्या है। अन्य सूक्तों में भी उषा के विषय में मन्त्र मिलते हैं। इन सभी स्थलों में उषा के स्वरूप, स्वभाव, वेशभूषा और उसके द्वारा किये जा रहे जनकल्याणकारी कार्यों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। यह सभी साहित्यिक दृष्टि से और कविहृदय से लिखा गया प्रकृतिचित्रण मात्र है। इस पत्र में सामान्यरूप से प्रसिद्ध धारणा, जिसमें उषा को कहीं सूर्य की पुत्री, कहीं पत्नी, कहीं प्रेयसी आदि बताया गया है, से हट कर शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से उषा के स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है। ठोस वैज्ञानिक प्रयोगों और नियमों के आधार पर उषाकाल में होने वाले आकाशीय परिवर्तनों और प्राणिजगत पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का विस्तृत विश्लेपण एवं विवेचन करने की दिशा में यह एक प्रयास है।

महाभारत के शान्तिपर्व में 'धर्म' का स्वरूप

डा० कुसुम दत्ता, जगाधरी

महाभारत ज्ञान का अक्षय भण्डार है। शान्तिपर्व, उसी विशाल ग्रन्थ का द्वादश पर्व है जिसमें भीषण युद्ध के पश्चात् शान्ति की स्थापना का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। युद्ध की विभीषिकाओं से क्लान्त मानवमन को शान्ति प्रदान करने वाला यह पर्व, धर्म के स्वरूप का सर्वांग रूप से प्रतिपादन करता है। महाभारत, जिसे पंचम-वेद एवं धर्मशास्त्र की संज्ञा से विभूषित किया गया है, के द्वादश पर्व के आधार पर धर्म के स्वरूप का विशद विवेचन करना प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

धर्म' जैसे बहुआयामी शब्द का अभिप्राय शान्तिपर्व में भी व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होना है।

प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान में मानसिक सुझाव

डा० कमला देवी

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने प्राणियों के शरीर के भीतर स्थित इस मन' नामक अद्भुत तत्त्व के स्वभाव एवं शक्तियों का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया था। षोडश हिन्दू संस्कार इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। ये संस्कार गर्भ में व्यक्ति के पदार्पण करते ही प्रारम्भ हो जाते हैं तथा मृत्यु के उपरान्त भी कुछ काल तक चलते रहते हैं। आधुनिक जीवविज्ञान की इस धारणा के विपरीत कि गर्भ में चौथे या पाँचवे महीने चैतन्य आता है तथा हृदयगति बन्द होते ही समाप्त हो जाता है, भारतीय मनीषी यह मानते थे कि गर्भाधान काल में ही चैतन्य अर्थात् जीवात्मा गर्भ में आ जाती है, भले ही वह सुप्तावस्था में रहती हो।

वैदिक यज्ञ : पर्यावरण-परिशोधन विज्ञान

ब्रह्मचारी व्यासनन्दन, भागलपुर

आज भारत ही नहीं, समग्र विश्व में पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या सुरसा की भाँति मुँह बाए खड़ी है। प्रदूषण का राक्षस अपने फौलादी पंजे फैलाये बढ़ा आ रहा है। इस विषम परिस्थिति का सरलतम और योग्यतम हल 'वैदिक यज्ञ' है।

यज्ञ के हविर्द्रव्यों में 'घृत' ही प्रधान है। घृत का नाम 'आज्य' है। आज्य का अर्थ है – आ समन्तात् लोकान् जयति अनेन—अर्थात् इसके द्वारा लोक–लोकान्तरों के प्रदूषणरूपी असुर तत्वों पर, आँधी-तूफानों पर विजय प्राप्त होती है। गोघृत में यह क्षमता है कि भयंकर विष का प्रतिरोधक बन सके। दूसरे, इसमें भेदक शक्ति है।

संस्कृत द्व्याश्रय काव्यों की परम्परा और उसका वैशिष्ट्य

डा० सुधा शुक्ला, लखनऊ

श्लेष मूलक द्वयाश्रय काव्य-पद्धति का पूर्ण विकास नवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है, तथापि इस शैली के बीज समस्त संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक इस शैली को देखा जा सकता है। वेदों में इस पद्धति का एक दूसरा रूप प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वेद संहिताओं की भाँति अनेकार्थक मन्त्र प्राप्त होते हैं। उपनिषद् साहित्य में भी ज्ञानकाण्ड की प्रधानता देते हुए अनेकार्थ मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, अनेकार्थकता की अभिव्यञ्जना के उपकरण अन्योक्ति, रूपक आदि अलङ्कार तथा शाब्दिक निरुक्तियों या सांकेतिक संख्याएँ हैं। इस प्रकार वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में अनेकार्थक पद्धति के वैदिक रूप प्राप्त होते हैं।

अग्नि विद्या

डा० रामाभिलाष त्रिपाठी, गाजीपुर

वेदों एवं उपनिषदों में विद्याओं के अन्तर्गत अग्निविद्या का उल्लेख आता है। विभिन्न आख्यानों के माध्यम से अग्निविद्या का वर्णन किया गया है। कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद में अग्निविद्या का वर्णन किया गया है। नचिकेता ने द्वितीय वरदान के रूप में स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत अग्निविद्या का ज्ञान यमराज से प्राप्त किया। बाद में इसे नाचिकेताग्नि से भी आख्यायित किया गया। इसी को अग्नि चयन भी कहा गया है। कठोपनिषद में "या इष्टका यावतीर्वा यथा वा" के द्वारा अग्नि चयन में ईंटों के वैशिष्ट्य का भी वर्णन किया गया है। उपनिषदों में वर्णित अग्निविद्याओं में यह अग्निविद्या या अग्नि चयन क्या है? इसका मूल स्वरूप एवं प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तावित शोधपत्र में किया गया है।

महाविद्या तारा

डा० रमाशंकर मिश्र, लखनऊ

तान्त्रिक महाविद्याओं में काली, तारा, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी तथा कमला प्रसिद्ध हैं। इनमें तारा एक महत्वपूर्ण महाविद्या है। तारा की पूजा, मन्त्र, प्रातःकृत्य, गुरुपूजा, गुरुध्यान, श्रीपादुका, प्राचीन गुरुपरम्परा, मानस और यान्त्रिक पूजापद्धति, न्यास, वर्णमाला, पञ्चमकार, स्त्रोत, पुरश्चरण, रक्त अर्पण, प्रतिमा, दर्शन आदि का विस्तृत वर्णन 'तारा-तन्त्र' नामक ग्रन्थ में किया गया है। ग्रन्थ में भैरवी की जिज्ञासा का समाधान भैरव के द्वारा किया गया है। देवी उस मन्त्र को जानना चाहती हैं जिसके द्वारा बुद्ध तथा वशिष्ठ सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

The Evolution of Sanskrit Dramas in Orissa

Trinath Hota, Bhubaneswar

The Orissan Dramas so far the Sanskrit is concerned are not lagging behind in the dramatic field of Indian Literature. The tendency of writing plays is marked to have taken place in Orissa since the 8th century A D. A number of Sanskrit plays are written till the 20th century. The aim of this paper is to present the contribution of Orissan Scholars in the field of Sanskrit drama. The plays under the study can be divided into four categories, viz.

1) Imaginary
2) Mythological
3) Historical
4) Allegorical

The Place of Prahelikas in Sanskrit Alankara Sastra

Dr. Meera Sarma, Madras

The main intention of poetry is to afford delight-Priti. Poetry need not be always written in a serious tone. It can also be playful, written out of sheer joy. In the west the theory 'art for art's sake' gave rise to poetry written purely for assonance, word-play or even nonsensical.

Origin of Town-Planning in India

Dr. Parmanand Gupta

The plans of towns and their denominations based on or identical with the geometrical figures of the Vedic altars have survived throughout our history of town-planning in ancient India. The common element of fortification in all the principal habitations of men is supported from such early words as gotra or gopura, etc.

Sense-Orientation of Pratyayas in Grammar

Dr. Gopabandhu Mishra, Ara

A derivative word has two constituent parts, 1. Prakrti and 2. Pratyaya. Prakrti, either a Dhatu or a Pratipadika, has its own form and sense. Similarly, a Pratyaya, either a Suffix or a Prefix, has its unchangeable form and particular sense or senses. We can very well see that in almost all the derivative words, the form of Prakrti takes the major constituent part, whereas the sense of Pratyaya does prevail predominantly, e.g. Dasarathi (Dasaratha + In 'in the sense of offspring) and Karah (Kr+ Ghan' in the sense of action.)

The Conception of God according to Virasaivism

Ms. Bharati Kalita

Virasaivism, one of the important schools of Saivism, otherwise known as Vira-Saiva-Siddhanta, Satasthala-Siddhanta establishes Siva, the Supreme Being, as the fundamental reality. As we know that Sripati (14th century A.D. is the systematic exponent of Virasaivism. He recognises both differences and non-differences between Brahman and the selves, and also Brahman and it's energy which expresses itself as the world. According to Virasaivism, Brahmana, the Supreme Being is one, without a second and is identical with Siva.

✓ Vedic Agni in the Puranas—Some Aspects

Mrs. Gauri P. Mahulikar, Bombay

Agni, the second most important deity of the Vedic Aryans, has triple character, the Sun in the heaven, the lightning in the mid-region and the sacrificial fire on the earth. Some of his aspects such as his birth, his epithets etc. as seen in the Puranas, are discussed in this paper.

The Inner Spirit in Telugu Epic Novels

Dr. A. Bhoomaiah, Warangal

There are two prominent epic novels in Telugu. They are 'MALAPALLI' by Unnava Laxminarayana, and 'VEYIPADAGALU' by Viswanadha Satyanarayana. They deal with the physical and spiritual aspects of life. Though they apparently seem to deal with the social and political matters, they are basically spiritual in spirit. They centre around a basic theme, that is, the gradual growth of man from his mundane existence into spiritual plane.

The Development of Sanskrit ks in Magadhi

Jagat Ram Bhattacharyya, Ladnun

The treatment of Sanskrit ks in Magadhi is a problem. All the Prakrit grammarians, both eastern and western are not unanimous on this point. Even the Magadhi passages of the Sanskrit dramas are not always uniform in this respect. Editors of both Prakrit grammar and Sanskrit dramas are, therefore, carried out either by manuscript evidence or by their power of discretion to select one by rejecting the other. A careful perusal of all the available Prakrit grammatical texts has forced us to rethink of this problem.

Some Aspects of Aryabhata's Findings

Prof. N.N. Joshi, Bombay

Aryabhata is regarded formost among the scientists in ancient India. Particularly as a leader of the movement in the field of astronomy and pure mathematics towards the close of the fifth Century A. D. The paper is an attempt to highlight: 1. His uniqueness, 2. His unorthodox approach to the concepts of astronomy, and 3. His original contribution to the field of pure Mathematics in ancient India.

Badarinath Kashinatha Shastri—Life and Works

B.P. Pandya, Vadodara

Regional contributions to the growth of Sanskrit Literature is very important in the history of Sanskrit literature. Gujarat has contributed significantly in all branches of Sanskrit literature since early times, and B roda, the State Capital of Gaekwads also known as Chotikasi, has its own contribution in 20th century and in this context an attempt has been made to evaluate tne life and works of Badarinatha Kashinatha Shastri· (1898-1976 A.D.) in this paper.

Baroda has produced many traditional Pundits in different Sastras of Sanskrit.

Computers in the Service of Sanskrit

Dr. R.R. Somayajulu, Rajahmundry

With the advent of modern technology in general and electronics in particular, there is a perceptible change in the outlook of all organisations and individuals around the globe. The achievements in the electronics in the form of Computers opened several new avenues for exploring the depths of old and new systems alike as they helped for storage of voluminous amount of data and also for retrieval of information instantaneously after necessary analysis.

Secular Background of Ancient Indian Polity

Dhirendranath Bandyopadhyay

1. Meaning of Secularism.
2. Is it theoretically feasible to examine any ancient idea in the light of modern thoughts ?
3. Religion versus Secularism.
4. Science of Polity in Ancient Indian cultural traditlon.
5. Synthesis.

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन
35 वाँ अधिवेशन
16-18 नवम्बर – 1990.
शोधपत्र - सार

अपने कर्मों के द्वारा उस ईष्ट तथ्य (साध्य End) की प्राप्ति यदि हो जाए तो वह 'तथ्य' मूल्य में परिवर्तन हो जाता है।

अर्थात् मूल्य तथ्यों से उत्पन्न किये जाते है। यही कारण है कि मूल्य भी विभिन्न प्रकार के है, वे परिवर्तनशील है। मूल्य वह आदर्श अथवा तथ्य है जो प्राप्य हो। कई परिस्थितियो में मूल्य प्राप्ति का प्रयास भी मूल्य होता है। अर्थात् मूल्य साधन एवं साध्य दोनों ही हो सकता है। आधुनिक शिक्षा पद्धति curriculur द्वारा अधिकाधिक मूल्यों की प्राप्ति हो, इसके लिये आवश्यक है ऐसे पाठ्यक्रम तैयार किये जाएं तथा पठन-पाठन का ऐसा वातावरण तैयार किया जाए जिससे शिक्षार्थी को विभिन्न तथ्यों एवं आदर्शों का अधिकाधिक ज्ञान हो तथा शिक्षार्थी उन तथ्यों एवं आदर्शों को मूल्य रूप में प्राप्त कर सकें।

(पर्यावरण-प्रदूषण, असंतुलन, तज्जन्य दुष्प्रभाव एवं उसके निवारण का वैदिक उपाय)

लेखक-डा० दिनेशचन्द्र धर्ममार्तण्ड,
वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी वि० वि०, हरिद्वार

यह निर्विवाद सत्य है कि समस्त प्राणियों के माता-पिता स्वरूप परमेश्वर[1] ने काल दिशा, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी एवं पृथिवी पर अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों को अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मनुष्य[2] को उत्पन्न करने से पूर्व बनाया।

ये कालादि सात पदार्थ प्रकृतिजन्य सात पर्यावरण हैं अर्थात् परि=चारों ओर से आवरण=आच्छादन हैं।[3] इसलिये जिसवर्ट ने पर्यावण की परिभाषा निश्चित करते हुये लिखा है कि "प्रत्येक वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरती है एवं उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है, पर्यावरण है[4]।" जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के पर्यावरण पृथिवी से लेकर सूत्रात्मा वायु तक सात हैं, जिन्हें विज्ञान ट्रोपोस्फीयर, स्ट्रेटोस्फीयर, आयनोस्फीयर फोटोस्फीयर, क्रोमोस्फीयर, हाइड्रोस्फीयर, लीथोस्फीयर आदि (सात) नामों से कहता है,[5] उसी प्रकार इस पिण्ड (शरीर) में भी सात पर्यावरण रस,

---

१. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथः।
अधा ते सुम्नमीमहे" ॥ ऋ. ८/९८/॥

२. नहि मनुजात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चत् (महाभारत)॥

३. (पर्यावरण" शब्द परि और आङ् उपसर्ग पूर्वक वरणार्थक वृङ् एवं वृञ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका व्युत्पत्ति परक अर्थ-परि=सर्वतो भाव (चारों ओर), आङ् = सामान्यतः सामने, आवरण = ढकना, आच्छादन करना होता है।

४. स॰ वै. सो. सं. मेरठ द्वारा सम्पादित "पावमानी" का पर्यावरण विशेषांक, भाग-१, मेषसंक्रांति चैत्र २०४७, पृष्ठ ६५

५. See " Atmosphere " in the columbia Encyclopedia, one volume, 2nd edition, New yorK, Page 116, 1917 and Encyclopedia Britannica, volume-?, Page 700 to 702.

रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र हैं[6] वसुमती (पृथिवी) भी सप्तद्वीपा है। सूर्य की सातरंगी किरणों तथा वायु के भी ७ × ७ = ४६ भेद होते हैं[7]। भगवती श्रुति में इसी को बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है— सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ (ऋक्. १०/६०/१५यजु. ३१/१५)

मन्त्र का भावार्थ यह है कि संसार की सात परिधियां हैं, इक्कीस समिधायें हैं। देव लोग पुरुष की रक्षा के लिए सृष्टि के आदि काल से यज्ञ का विस्तार कर रहे हैं।

इस मंत्र में न केवल परिधियां (पर्यावरण) ही बताई गयीं अपितु २१ समिधाओं को लेकर परिधियों की सुरक्षा के लिए यज्ञ विद्या का भी संकेत कर दिया गया है। अथर्ववेद के अनुसार यह संसार परिधि के सहारे टिका हुआ है। यह परिधि छन्दस् भी कहलाती है—

त्रीणि छन्दांसि कवयो विमेतिरे, पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधय, तान्ये कस्मिन् भुवन अर्पिनि ।। (अथर्वः १८/१/१७)

अर्थात्, तीन वस्तुएं जो इस विश्व को आवृत किये हुये हैं, वे हैं—आप : यानि जल, वातः यानि वायु ओषधयः यानि पौधे। ये जीवन के लिए ऊर्जा देते हैं और इस की रक्षा करते हैं। वास्तव में ये तीनों ही मानव के अस्तित्व के लिए परमावश्यक हैं।

वेद में एक और शब्द आता है— 'अन्तर्धि।' अन्तर्धि का अर्थ है आन्तरिक शक्ति। प्रकृति के प्रत्येक कण में (आन्तरिक शक्ति) और परिधि (ब्राह्यशक्ति) होती है। अन्तर्धि इसे गति और ऊर्जा देती है और परिधि इसकी रक्षा करती है—

अन्तर्धिर्देवानां परिधिमर्तुष्याणाम्। (अथर्व. १२/२/४४)

---

६. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ॥ च. स. चि. स्था. अ० १५/१६

७. यजुर्वेद ३६/७ ब्रह्माण्ड से सम्बंध रखने वाले ४६ प्रकार के मरुद्गण नामक वायु वर्णित हैं—

उग्रश्च भीमश्च ध्वनिश्च।
सासह्वाश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥

शतपथ ब्रा० (६.११.१.२६.) में भी उंचास तरह के मरुतों का वर्णन मिलता है।

अर्थात् इस परिधि का उद्देश्य जीवन की रक्षा के लिए है। यदि यह पर्यावरण सुरक्षित रहे, तो समस्त मानव-जीवन स्थायी रहेगा।

29

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।

यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधि जीवनाय कम् ॥ अथर्व० ८/२/२५

इन परिधियों के प्रदूषित होने पर मनुष्य, पशु वनस्पति, आदि सभी का विनाश सम्भव है। पर्यावरण में सभी भौतिक और अभौतिक एवं मानव रचित वस्तुएं सम्मिलित हैं। जो उसे प्रभावित करती हैं। सम्पूर्ण पर्यावरण तीन प्रकार का माना गया है[८]— १. प्राकृतिक पर्यावरण २. सामाजिक पर्यावरण ३. सांस्कृतिक पर्यावरण। वेदों में इन त्रिविध पर्यावरण को शुद्ध करने और प्रदूषण का निवारण करने के लिए सतत उपदेश दिये गये हैं। विस्तार भय से प्रस्तुत लेख में केवल प्राकृतिक पर्यावरण को लक्ष्य करके कुछ तथ्य उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। प्रसंग से आपाततः इतर पर्यावरण का भी निर्देश किया गया है।

प्रकृति अत्यन्त ही उदार है तथा वह हमारी सभी आधारभुत सुविधाओं एवं आवश्यकताओं जैसे भोजन, कपड़ा, जल तथा मकान आदि की पूर्ति करती है। परन्तु भौतिकवाद के इस युग में मानव ने प्रकृति के साथ जो क्रूर मजाक किये हैं, उनसे रुष्ट होकर शायद प्रकृति ने अब अपना क्रोध दिखाना प्रारम्भ कर दिया है। मानव हस्तक्षेप के कारण जीवन–चक्र[९] में असंतुलन बढता जा रहा है और उसके फलस्वरूप कुछ गम्भीर संकट पैदा हो गया है। इस कारण सम्भावना है कि अगले कुछ दशकों में वायु मण्डल विषाक्त हो जायेगा। पृथिवी, जल, वायु सभी दूषित हो जायेगें। पीने योग्य पानी व खाने के लिए शुद्ध अनाज न मिलने से अनेकानेक रोग हो जाएंगे। अतः जीव जन्तुओं

---

८. स. वै, शो. सं. मेरठ, पावमानी पर्यावरण विशेषांक, भाग-१ चैत्र २०४७, पृष्ठ ६५

९. जीवन (संसार) (एक चक्र) (सर्किल) है एक वस्तु जैसे कार्बनडाई आक्साईड प्राणियों को घातक है तो वह वनस्पति का भोजन है। और उसे खाकर वनस्पतियां प्राणवायु देती हैं। अर्थात् मानव आदि प्राणी वनस्पति पर और वनस्पति मनुष्य (के श्वास) पर आश्रित है। (पं प्र. की. वै. चि., आ., वि. मिश्र बदायूं)।

को घुट–२ मरने को विवश होना पड़ेगा। पर्यावरण विशेषज्ञों का मानना है कि इस असन्तुलन से जल प्रलय व हिम युग जैसी विभीषिका तथा प्रलंयकर सूखे एवं प्रकोपकारी भूकम्पों की आशंका बढ़ जायेगी। अंधाधुन्द औद्योगीकरण के कारण, कोयला, तेल व अन्य प्रदूषित इंधनों के बढ़ते प्रयोग, जनसंख्या का घनत्व बढ़ने एवं वनाच्छादित क्षेत्रों के कम होने से[10] कार्बनडाई आक्साईड की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होने से[11] वैज्ञानिकों के अनुसार इस शताब्दी के अन्त में तापक्रम बढ़ने से विश्व की जलवायु में भारी परिवर्तन होगें। इनसे ध्रुवीय बर्फ पिघलजाने एवं समुद्र में उफान जैसी स्थिति आने पर पृथिवी के बड़े भाग के जलमग्न होने की आशंका हैं।

पर्यावरण के प्रदूषित होने से ओजोन की लेयर (पर्त) फटती जा रही है। जिसका क्षेत्र कभी फुटबाल के बराबर था आज वह छिद्रित क्षेत्र अफ्रीका महाद्वीप के बराबर है। इस लेयर के ठीक होने पर सूर्य से आने वाली परावैंगनी अल्ट्रावायरस नामक प्राणघातक किरणें भूमि तक नहीं आने पाती। लेयर (पर्त) के फट जाने से किसी भविष्य काल में पृथिवी पर अधिक तापादि के द्वारा वनस्पति आदि सभी का विनाश हो सकता है अतः उसी लेयर की रिपेयर (मरम्मत) के विषय में वैज्ञानिक अतितरां चिन्तित हैं। ओयोज परत में छिद्र के बढने से सम्भावित खतरों के बारे में प्रमुख औद्योगिक सम्पन्न राष्ट्रों ने सितम्बर १९८७ में माट्रियल तथा १९९२ में रियोडिजेनेरो में सम्पन्न विश्व सम्मेलन में यह तय किया है कि सन् २००० तक चरणबद्ध ढंग से इस समस्या पर नियंणत्र कर लिया जायेगा।

आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों ने निम्नांकित रूप में इन (प्राकृतिक) प्रदूषणों की

---

१०. विश्व में लगभग ६ करोड हेक्टेयर क्षेत्र के वनों का प्रतिवर्ष विनाश होता है। भारत में ही प्रतिवर्ष सोलह लाख हेक्टेयर क्षेत्र में वन काटे जा रहे हैं, जिससे भारत में अब मात्र १९%प्रतिशत भू भाग में ही वन शेष हैं।
(अमर उजाला, दैनिक समाचार पत्र, मेरठ संस्करण ६ फरवरी १९९४, पृष्ठ ६)

११. एक अनुमान के अनुसार पिछले एक सौ वर्षों में लगभग चालीस हजार करोड टन कार्बनडाई आक्साईड गैस उत्पन्न हुई है अमेरिका स्थित 'वुडम रिसर्चसेन्टर, मेसाचुऐट्स" की एक रिपोर्ट के अनुसार लगभग एक खरब टन से २.३ खरब टन के माध्म कार्बनडाई आक्साईड गैस प्रतिवर्ष वायु मंडल में पहुंचती रही है। (वही)

चर्चा की है। यथा – १. मृदा (मिट्टी) प्रदूषण, २. जल प्रदूषण, ३. वायु प्रदूषण, ४. रेडियो धर्मी-प्रदूषण, ५. ध्वनि–प्रदूषण, और ६. भाव (बुद्धि,मन) प्रदूषण।

दीर्घ काल तक आत्मा (मन, बुद्धि, जीवात्मा) की सत्ता न मानने वाले वैज्ञानिकों ने इस प्रदूषण की चर्चा की कभी अनुभूति नहीं की जो कि सबसे प्रधान प्रदूषण है क्योंकि मानव की बहुमूल्य सम्पत्ति तो भाव, भावना या विचार ही हैं।[12] विचार के विषय में जैसा कि इस संगोष्ठी के प्रथम सत्र के अध्यक्ष डा० विजयेन्द्र स्नातक ने भी स्पष्ठ किया है।

ऋग्वेद में प्रदूषण की समस्या का विभाजन करते हुए कहा गया है कि ऊपरी भाग की समस्या को सूर्य , मध्य भाग की समस्या को वायु तथा नीचे के भाग की समस्या को अग्नि हल करता है[13]।

ऋषि लोग मानव की शक्ति को जानते थे और साथ ही उसकी दुर्बलताओं को भी। यह कहना तो ठीक है कि वैदिक काल में क्योंकि सृष्टि साम्यावस्था में थी– जीवन-यापन की अनुकूलतम अवस्था में थी,[14] या यों कहें कि तत्कालीन वातावरण पूर्ण व्यवस्थित था, अतः उस समय पर्यावरण–प्रदूषण जैसी कोई समस्या नहीं थी, तथापि मानव स्वभाव को जानने वाले (क्रान्तदर्शी) ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय में जीवन की इस प्रकार की व्याख्या की है, जिससे पर्यावरण–प्रदूषण की समस्या उत्पन्न ही न होने पाये। या, आगे चलकर उत्पत्स्यमान समस्या के प्रति मानव को पहिले से ही सचेत कर दिया है कि ऐ मानव, इन-२ वस्तुओं को न छेड़ना, इन्हें बिड़गने न देना, इनका संतुलन बनाये रखना अन्यथा तेरा जीवक नष्ट हो जायेगा। यजु० के ३६/१७ मन्त्र में ऋषि ने इस प्रकार की ९ वस्तुओं या अंगों की ओर संकेत किया है।

भूयोविद्य बनकर जब हम वेदों का पर्यालोकन करते हैं तो हमें आधुनिक पर्यावरण

---

१२. आ. स. अलमोडा द्वारा संपादित पत्रिका (नाम और वर्ष अज्ञात) में आ. विशुद्धानन्द मिश्र कालेखा पर्यावरण प्रदूषण की वै चि.।

१३. सूर्यो नो दिवस्पातु, वातो अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः॥ (१०/१५८/२)

१४. पावमानी, प्र० भाग पृ० ३०

प्रदूषण के अनेक समाधान वेदों में मिलते हैं। जैसे आंधी, वर्षा और सूर्य द्वारा पर्यावरण-शोधन, अग्निहोत्र द्वारा पर्यावरण-शोधन, वनस्पति उगाना, शब्दशक्ति या रेडियो तरंगों का प्रयोग, प्रकृति के रुद्र और शिव रूपों की संकल्पना, प्रकृति में अग्नि और सोम तत्वों को संतुलित करना तथा शस्य-प्रभाव (Green house) आदि।

यहां हम इनमें सबसे प्रमुख, सर्वसम्मत और वैज्ञानिक एकमेव अमोघ उपाय अग्निहोत्र का वर्णन करना चाहेंगे।

'आज से लाखों वर्ष पूर्व ऋषि, देव और विद्वानों ने उपर्युक्त प्रदूषणों, असंतुलन जन्य दुष्प्रभावों से बचने, और इन प्रयाविरणों (परिस्थियों) की रक्षा के लिए यज्ञप्रथा का आविष्कार और प्रचलन किया था। इस मानव के पिता परमात्मा ने भी तो सृष्टिचक्र के रक्षार्थ "वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः"[15] अर्थात् वसन्त घृत, ग्रीष्म समिधा और शृणाति हिनस्ति प्रदूषणमिति शरद-ऋतु हवि (साकल्य) का वर्णन किया है।

यज्ञ (हवन) अर्थात् देवदूत[16] पंचभूतों की मध्यस्थ देवता अग्नि, उसमें डाला हुआ चारों प्रकार का सुगंधित, पुष्टिकारक, मिष्ट और रोगनाशक रूप यज्ञद्रव्य[17], मिट्टी, जल वायु, ध्वनि (आकाश) रेडियोऐटिव प्रदूषणों अर्थात् नागासाकी, हिरोशिमा में परीक्षित तथा पीढ़ी दर पीढ़ी तक लंगडे, लूले, अन्धे, काने आदि बनाने वाला प्रदूषण ध्वनि तथा भाव (हृदय) प्रदूषण को अकेला ही दूर कर सकता है। देखिये, कैसे? अग्नि में डाली आहुति (घी, द्रव्य) से मिट्टी, जल वायु का प्रदूषण मन्त्रोच्चारण से ध्वनि-प्रदूषण और उन मन्त्राशों के द्वारा भाव का प्रदूषण दूर होता है। इसी लिए कहा गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

---

१५. ऋग्. १०/९० १४, यजु० ३१/१४

१६. अग्नि दूतं वृणीमहे। (ऋग्.)

१७. संस्कारविधि, स्वा. दयानन्द सरस्वती, सामान्य प्रकरण।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ मनु ३/७६

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ भगवद्गीता ३/१०

अर्थात् प्रजा को यज्ञों को साथ देकर, प्रभु ने उत्पन्न किया कि मेरे बेटो। यह यज्ञ सब मनोरथों का पूरक है, इसी के द्वारा तुम फलोगे और फूलोगे। इस प्रकार अग्नि में दी गयी आहुति सूर्य तक जा कर वृष्टि और अन्न को उत्पन्न करती है।

अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि पुरुष से पशु, पशु से वनस्पति, वनस्पति से वृष्टि, वृष्टि से यज्ञ (अन्नादि की उत्पत्ति द्वारा) पुनः यज्ञ (सृष्टियज्ञ) से पुरुष आदि क्रम से अन्त में यज्ञ। यह चक्र शाश्वत है।

अग्निहोत्र वायु, जल, मिट्टी, वनस्पति आदि सभी के प्रदूषण को दूर करने में सहायक होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के सैकड़ों मंत्रों में यज्ञों के द्वारा वायुमंडल की सुद्धि की चर्चा है। बार-२ अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि अनेक रोगों से मुक्त कराये, वायु के क्रमि (worms) आदि को नष्ट करें। अग्नि में होम किये अनेक प्रकार के रोग नाशकगुणयुक्त तथा सुगंधयुक्त पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुंआ जल—वायु के दोषों अथवा विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

वैदिक विधि से किया गया यज्ञ श्वास रोग, राजयक्ष्मा, खांसी, दमा आदि दूर करने में सहायक है। मैडिकल सांइस की अनेक खोजों से प्रमाणित हुआ है कि यज्ञ में घृत के साथ शर्करा की आहुति देने पर वायु में विद्यमान प्लेग रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा द्वारा किये गये वैज्ञानिक प्रयोगों से यह प्रमाणित हो चुका है कि यज्ञ अनेक खतरनाक रोगों की अचूक दवा है इसलिये उन्होंने "यज्ञोपैथिक" नामक एक नयी उपचार विधि ही प्रचलित की[१८]। आयुर्वेद के चरक, बृहन्निघण्टु रत्नाकर, योगरत्नाकार, गदनिग्रह आदि ग्रन्थों में ऐसे कई योग वर्जित हैं, जिनकी आहुति अग्नि में देने से वायुमण्डल शुद्ध होता है यथा श्वास द्वारा धूनि अन्दर लेने से

१८. विशेष जानकारी के लिए शान्तिकुञ्ज हरिद्वार से सम्पर्क किया जा सकता है।

रोग दूर होते हैं। जहां होम किया जाता है उस स्थान के अन्दर वर्तमान अग्नि वायु तथा सूर्य किरणों की रोगदूर करने की शक्ति बढ़ जाती है। अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त ॥ एवं काण्ड २०, सूक्त ९६ में अज्ञात तथा असाध्यसम दुसाध्य रोगों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय होमचिकित्सा बताई गई है। यज्ञों में जिन द्रव्यों का प्रयोग होता है वे सभी वायु शोधक तथा रोग नाशक होते हैं। सबसे मुख्य द्रव्य घृत होता है। "प्लेग पर लिखते हुए डा० हैम्फकिन का कहना है कि घृत के परमाणु से जो वाष्प बनती है, वह रोग के कीटाणुओं को नष्ट कर देती है। मद्रास के "सैनटरी कमिश्नर" कर्नल किंग ने सन् १८९८ में विद्यार्थियों को सलाह दी थी कि उन्हें चावल में घृत और केशर मिलाकर हवन करना चाहिए, उसकी गैस से रोग के कीटाणु मर जाते हैं। उनका तो यहां तक कहना था कि अंग्रेजी शब्द "हाईजीन, सम्भवत: हवन शब्द से निकला होगा[19]। सन् १९१२ में 'इण्डियन रेव्यू" में हवन पर एक लाख निकला था जिसमें डा. ट्रिलिट का मत दिया हुआ था।[20] कि चीड की लकड़ी के धुएं से ३२/प्रतिशत, शाहबलूत की लकड़ी से ३५/प्रतिशत, शुद्ध खाण्ड के जलने से ७०/प्रतिशत अश "आल्डिहाइड" नामक गैस उत्पन्न होती है, यह गैस बहुत रोगनाशक होती है इससे रोगियों के कमरे शुद्ध किए जाते हैं।" इससे यह नि.सन्देह पता चलता है कि यज्ञों की हवा रोगनाशक है।

होम की सहायता से होने वाली वर्षा का[21] जल भी शुद्ध होता है और उस शुद्ध

---

१९. श्री महावीर स्वरूप जी के 'सिद्धांत' में मुद्रित लेख।

२०. गुरुवेद ज्योति:, गङ्गेश्वर इण्टर नेशनल वेद मिशन, बम्बई, वि. सं. २०४३ षष्ठ पटल वैदिक-प्रज्ञा, पृ० ८६

२१. अग्निहोत्र से होने वाली वृष्टि आधुनिक विज्ञान-सम्मत है, एतद्विषयक जानकारी के लिए गु. कां. वि. वि. के पूर्व प्रोफेसर श्रीयुत स्व. मीरालाल जी गोयल एम० एस० सी० का "अग्निहोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप" विषयक अनुसन्धानपूर्ण निबंध द्रष्टव्य है। और इसी विषय से सम्बन्धित पं० रघुनन्दन शर्मा द्वारा रचित "वैदिक सम्पत्ति" के उपसंहार में 'यज्ञ' शीर्षक भी अवधेय है। जिसमें उन्होंने यज्ञ से होने वाली वर्षा को अविनाश चन्द्रदास और मिस्टर हैरफील्ड के उदाहरण प्रदर्शित करते हुए विज्ञानसम्मत बताया है। तथा इसके साथ ही यज्ञ का अर्थ इच्छानुसार पानी बरसाना किया है।

जलवायु से उत्पन्न औषधि–वनस्पति भी शुद्ध अथवा निर्दोष होते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि को पावक, अमीवचातन, पावक शोचिष, सपत्नदम्भन आदि विशेषणों से विभूषित करके उसकी शोधकता प्रदर्शित की गयी है[22]। अतः वायुमण्डल के प्रदूषण को रोकने में वेद प्रतिपादित यज्ञों की महिमा प्रमाणित है। भोपाल गैस त्रासदी में उन स्थानों पर कम विनाश हुआ जहां यज्ञ होते थे[23]।

अथर्ववेद के अनुसार अग्निहोत्र का समय सायं और प्रातः है। सायं किया हुआ अग्निहोत्र प्रातःकाल तक वायुमंडल को प्रभावित करता रहता है और प्रातः किये गये अग्निहोत्र का प्रभाव सायं काल तक वायु मंडल पर पड़ता है[24]। डा० रामनाथ वेदालंकार के अनुसार अग्निहोत्र दो प्रकार का होता है। उन्हीं के शब्दों में एक अग्निहोत्र वह है जो धार्मिक विधि विधानों के साथ मन्त्रपाठ पूर्वक होता है, दूसरे उसे भी अग्निहोत्र कह सकते हैं जिसमें मन्त्र पाठ आदि न करके विशुद्ध वैज्ञानिक या चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टि से अग्नि में वायु शोधक या रोगकृमिनाशक पदार्थों का होम किया जाता है[25]।

आधुनिक युग में वेदों की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाले महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य[26] के आधार पर हम कह सकते हैं कि वायुशोधक वस्तुओं में यज्ञ मुख्यतम

---

२२. यथा, पावक ऋग्० १.१२.१८,१६, अमीवचातन अथर्व. १६/५८/२, पावक शोचिष् ऋ० ३/६/८, सपत्नदम्भन् यजु० ३/१८

२३. देखो, स्वामी विवेकानन्द सरस्वती द्वारा लिखित 'अग्निहोत्र यज्ञ विज्ञान की दृष्टि में'।

२४. सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता ॥

प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता ॥

(अथर्व. १६/५५/३–४)

२५. 'आर्षज्योति :' पृ० २६२

२६. द्रस्टव्य–यजु. १/२, १२–१६, १६–२३, २५, २७, २/१, ६–८, १६, ३२, २५ तथा ३/१, ४ आदि का भाष्य और भावार्थ।

साधन है। उससे न केवल वायु का शोधन होता है अपितु अन्न, जल, औषधि एवं वनस्पतियों का भी शोधन होता है। आज यज्ञ को धर्म विशेष तक सीमित मान लिया गया है। राष्ट्र के कर्णधार यज्ञ का प्रचार करने से इस लिए भयभीत होते हैं कि कहीं उन्हें धर्म (सम्प्रदाय) विशेष से सम्बन्द्ध न मान लिया जाय। उनमें इतना आत्मबल नहीं हैं कि इस पर्यावरण शोधन क्रिया का खुल कर प्रचार कर सकें। वे बेचारे भी पश्चिम की ओर देखते हैं कि कोई वहां से इसका प्रचार करे जिससे वे उनका सहारा लेकर इस वैतरणी को पार कर सकें। जबकि विदेशी वैज्ञानिक भी जैसा कि मैने पूर्व उल्लेख किया है गोघृत के यज्ञ से वायु शोधन मानने लगे हैं। तथा विदेशों में भी यज्ञों का प्रचार फैल रहा है[27]।

यज्ञ अन्न, जल, वायु, औषधि सभी के शोधन का मुख्य एवं सर्वोत्तम उपाय है। जिन मनुष्यों ने वेदों के आधार पर यज्ञों को दैनिक कृत्य का एक अंग माना था, तथा वृक्ष लगाने को पुत्रोत्पादन जैसा पुण्य कर्म बताया था वे धन्यवाद के पात्र हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य, ऋ०भा०भू०, सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि और पञ्च-महायज्ञ विधि में दैनिक यज्ञ का विधान करके एक शती से भी पूर्व इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया था। आज भी जब घर-घर में यज्ञों का प्रचार होगा तभी समस्या को सुलझाया जा सकेगा।

अन्त में लेख को समाप्त करने से पूर्व प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र के शब्दों में यह संकेत कर देना अभीष्ट होगा कि यज्ञ वनों में वृक्षों की बहुतायत में सम्पन्न होने वाले[28]) से वनस्पति कर्बन को तत्काल लेते हैं[29] और प्राणवायु को प्रदान करते हैं। तथा यज्ञ के पदार्थ मुनक्का, शक्कर, गिलोय, गुग्गल आदि से विभिन्न

---

२७. द्र.-स्वा. विवेकानन्द, अग्निहोत्र यज्ञ विज्ञान की दृष्टि में।

२८. वृक्ष 'ओषधतः' के अन्तर्गत आते हैं। नि० ६/२७ और शतपथ० २/२/४/१ के अनुसार ये ऊर्जा के स्रोत तथा प्रदूषण को दूर करने वाले हैं।

२९. ऋ. ६/४८/१७—मा काकम्बीरमुद्वृहो वनस्पति-वृक्ष प्रदूषण को अवशोषित करते हैं।

रोगों (कैंसर, टायफाइड, दमा, खांसी आदि) की निवृत्ति के साथ औषजन (प्राणवायु) अधिक उत्पन्न होती है। परावैंगनी किरणों की प्रकृति है कि वह औषजन से मिलकर ओजोन तैयार कर देती है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि ओजोन लेयर (जिसकी चर्चा हमने ऊपर की थी) (की रिपेयर) (उसे नष्ट होने से बचाने), वृष्टि करने तथा प्रदूषण नष्ट करने का यज्ञ से उत्तम अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसा कि ऋषि कह रहे हैं—

"न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहं इर्मेवते न्यविशन्त केपयः।"

अर्थात् यदि इस दूषित और असन्तुलन पर्यावरण से बचाना है तो यज्ञ रूपी नौका पर चढ़ो=अन्यथा यह विश्व सबका सब दुःख रूपी नरक में डूब जायेगा।

शिक्षानीति में पर्यावरण
एवं मूल्यों का महत्व

राष्ट्रीय संगोष्ठी

19-2-95 से 21-2-95

शोध पत्र संकलन

Importance of Environment and Values in Vedic Literature

Dr. Yajanveer Dahiya
Professor & Head Department of Sanskrit
Pali & Prakrit & Dean Faculty of Humanities
M.D. Univ. Rohtak Haryana

The sacrifice is a part and parcel of the Vedic leterature In fact, it is a basis of the human life Everything of a vedic seer is abounding in sacrifice. This may very well be understood through the perception of a vedic seer himself. He makes an observation.[1]

Another seer mentions [2]

It is not enough but the Atharvaveda proclaims to human-beings to perform sacrifices, season-wise daily, monthly and yearly, so that the seasonal deities may be stimulated to get their favour and the environment upto the mark for human-beings.[3]

Keeping in view the importance of sacrifice shathpath Brahmana proposes.[4] It means the sacrifice is the most noble act which keeps the human values and purify the environment as a whole It signifies the worship of all the deities concerning terrestrial, celestial and spiritual. The ritual makes the whole environment free from deseaee. The concept of sacrifice is to augment the power of natural elements existing in the terrestrial and celestial sphere, The self - accomplishment evolved out of the ideas of worshipping deities; and doing the science of Mantras; to perform the various

---

1— Rigved I (164.50)
2— Rigveda III (32.12)
3— Atharva Veda III (10 9)
4— Shath Path Brahmana I (7.15)

3-9a

duties concerned with the compartmentalised life of an individual in the society; and to perform symbolic rituals for the exposition of the vedic thought evolved out of the tendency of worshipping the ritual deities. The offering made in kind to the living-beings those are around us, gave rise to other forms of sacrifice. The sacrifice in a form of environment creates a new thing out of the combination or mixture of two or more things which ultimately signifies the technological development and advancement of various forms of sacrifice. Thus the sacrifice is evolved to attain accomplishment in various spheres of life in the form of values. The sacrifice is used as a strong and effective tool to bring the desired changes in the natural phenomena or weather modification like the change of the air-flow in terms of direction and speed, formation of clouds, seeding supercooled clouds, rain making whenever and where ever, so desired, preventing undesired rains control of pollution and prevention of various diseases of men, animals and plants. Thus, it keeps the environment free from the enemies of life-being.

Now the questions arise as what are the basic principles underlying the science of sacrifice ? How does it matter in environment modifioation, pollution control and prevention of diseases ? Before to get an answer to all these questions, it is necessary to understand the actual process of sacrifice as depicted in the vedic literature. Normally. a sacrifice consists of three elements: (a) fire (B) an offering material (c) and the deity to whom the material is offered. Katyayan srauta-sutra proposes regarding the sacrifice in the following term.[1] The sacrifice is otfering the specific material to the specific targetted deity by means of fire. Thus all the above

---

1— Katyayan Sranta Sutra I.2.5

mentioned elements, viz, fire, offering material and a deity are included in the aforesaid definition of sacrifice. This is what is the actual meaning, purport and propose of the sacrifice form of the vedic sacrifice All the three elements play a vital and crucial role in the proper prosecution of sacrifice in the other words environment mechanism of the vedic literature.

The environment contains a great impact on the physical body. In other words there is a close similarity between an organic whole and the organisation of the universal whole. This similarity is also known as the similarity of individuals' body to the universal body. Just as the universe is a composition of five i e. gross elements, so is an organic body composed of these five elements. These elements are supposed to exist in the organic body or universe in a balanced or organised manner or ratio. As long as this balance or organisation is maintained, the organic body survive and the nature takes its normal course, but the imbalance or disorganisation of elements disturbs the normal course of bodies and nature as well & ultimately leads to their destruction or end. Just as the environmental factor i.e air, fire, and water are the dominant factors in the operation of the universe.

Since air effected as caused by sky, it can not exist without sky. Where there is sky there is air and where there is air, there is touch as well as sound. It got a thermal state or say a thick gas marked with a colour. Its own property is Appearance, due to which it becomes visible. In addition, sound and touch are inherited from the sky and air. Since the fire owes its effect to air it can not exist without air, Where there is fire, there is air and where there is no air, there can not be the fire. The elements of eir, viz. oxyzen which is helpful in burning, and hydrozen, which has a burning

characteristic are the main factors in the origin of fire.[1] The fire gave effect to waters It had its own property as taste and the sound, touch and colour were inherited from either, air and fire respectively It occupied a liquid state. It was caused by fire, hence it is composed of the fire agents; viz. oxygen and hydrogen. The earth arose from waters. It was still grosser than waters, hence got a solid form.[2] It is an outcome of waters. hence still sustained by waters. In fact all these gross elements are responsible for environment, which are perfectly dealt by the seers of vedic literature

Diety of vedic literature is the name of a natural element or sub-element existing in various zones of environment. Actually, देवतां is the देव itself; देव इव देवता since like that of देव it also helps the existence and regulation of life on the earth by providing some necessity or other. According to the यास्क an ancient Indian etymologist.[3] They are called deities, since (a) either they provide us with some necessities of life or help the existence of life cycle on the earth, e.g. the sun provides us with the light and sun-shine, the मित्र Oxyzen, इन्द्र lighting. सोम coldness and humidity in the environment, मरुत air, वरुण hotness and dryness, पर्जन्य clouds अप्त्र super-cooled clouds, पररं वा thundering clouds रुद्र thunder storms, अदिति vaporisation of terrestrial waters and other aqueous substances into the upper layers of environment etc. (b) or since some of them are luminory bodies (c) or since some of them are celestial bodies or they have their abode in the firmament (dyuloka). Actually, each natural phenomenon is considered to be the function of some unforseen natural powers, which controls the environment,

---

1— Tait. upanisad Brahmavalli Ist Anuvak

2— Tait upanisad Br. Valli Ist. Anu.

3— Nirukta II. 1

and hence each one i. e natural phenomenon is associated with some foster deity. Before a natural phenomenun materializes, several other functions are required to work out This diversity or variety of functions in a natural phenomenun led to the diverse naming of the one and the same diety. यास्क also proclaims[1] शौनक relates[2] this fact, and also[3]

These deities have been numbered sometimes 33, sometimes 3300, sometimes 33 lakh and sometimes 33 crore, from the view point of their various functions and powers. The whole environment has been divided into three zones in the vedic literature, namely terrestrial sphere, midsphere and celestial sphere. The whole environment abode by some gross element or other and governed by a presiding diety and several others as subordinate deities. Terrestrial sphere is the main abode of solid and liquid matters such as earth and water and is governed by fire (अग्नि) as presiding deity and जातवेदस्, वैश्वानर, द्रविणोदा, तनुनपात्, नाराशंस, वृषभ etc. as subordinate deities. यास्क bears out the same fact [4] of. also [5] cf. also[6]

The midsphere is the above of gaseous elements such as air and water vapours. It is governed by इन्द्र and वायु as presiding deities and पर्जन्य, रूद्र, बृहस्पति, अपानपात्, परूरवा, अदिति, त्वष्टा, सविता, वात, वाचस्पति, सोम, मरूत, अंगिरस, ऋभु, पित्र etc. as subordinate deities,[7] and also.[8] These are the principal deities. And for subordinate

1— Nirukta II 2
2— Brhad Devata I 70
3— Brhad Devata I 71
4— Nirukta VII. 5
5— Brhad Deveta I. 73,
6— Brhad Aranyaka I, 105
7— Nirukta VII 5.
8— Brhad Deveta I. 73

deities.[1] The celestial sphere is the main abobe of thermal elements and is dominated by सूर्य as a presiding deity and अश्विनौ, वृषाकपायी, सूर्या, उषा, पूषा, वृषाकपि, यम, विष्णु, आदित्य, वरुण etc. as subordinate deities. Thus,[2] it is clear from the above discussion that the vedic deities perform great role regarding the environment and its values in vedic literature.

An offering material is a particular type of selected material qualified to augment the material power or energy of the respective diety, it is meant for. This particular type offering material when released to the sacrificial fire is taken up by it in conjuction with the air in its gaseous form through its column established with the help of the gravitational force of celestial fire to the targetted deity in the upper layers of the environment. There it mixes-up with the targetted deity and thus remedies the deficient potential or say augments the power and property of the targetted deity by tens of thousands times in its environmental zone. The vedic literature proclaims that the offering of a particular substance is capable of augmenting the power and property of a particular concerned deity and not of all the deities.[3] From the view of this statement of शतपथ ब्राह्मण it is evident that the vedic deities play a greater role in keeping the environment clean and safe.

Deity is the name of a standard element or sub-element abiding in the midsphere or celestial sphere to whom the material is offered with the help of the sacrificial fire and the same spread in the air in the form of the smoke. This smoke is not an ordinary smoke but a special smoke which come out with the mixture of butter oil,

1. Nirukta VII-10
2. Brhad Devata II-8-II 16
3. Satpath Brahmana II. 1.2 5

some branches of special trees and material which is made out by some Ayurvedic medicians. When such type of smoke spread in the air then it purify the whole of the environment. Thus, the sacrifice boost the power and potential energy to all the life-being. The same thing is proclaimed by the Vedic seer.[1]

Perhaps owing to the same characteristics of sacrifice, the vedic literature has explicitly mentioned to strengthen the essence or potential energy of each and every deity with the help of sacrifice for the prosperity and well being of the planet and planetary life [2]

It is evident from the above facts that the vedic literature is having the mature treatment of the environmental values.

Fire plays most important role to keep environment upto the mark. The terrestrial fire which is the representative form of the celestial fire has been attached a great importance among the three elements of sacrifice. As the RV. put it.[3]

Agni should be brought first in the sacrifices. Yaska also by way of eytmolozing expresses similar view regarding Agni.[4] Agni is what is brought first in the sacrifices.

The Rgveda at the very out set calls Agni as the leader of the sacrifice phenomenon.[5]

This characteristics of agni has been extolled at several other places in the vedic literature.[6]

1 Rgneda III, 32.12.
2. VS. Sam. XXVIII. 44, TB. II. 6. 201.
RV I. 26.6; SV. II 9.68,
RV. VIII 27.13, VS XXXIII. 91.
3. Rgveda VIII. 23.22
4. Nirukta II 1.
5. RV. I. 1 1.
6. RV. V. 11. 2. SV 909, TS IV. 4. 3.

Thus, form the quotations guoted just above, it is expiicit that Agni plays most important role in performing the sacrifices and sacrifice is the only way out which keeps the environment clean & free from the diseases Sacrliice purifies the air and purified air when brsathed by the life-being, it becomes medicine and removes all the diseases what so ever. In this way the sacrifice makes the environment perfect for the universe. Right from the very beginning the sacrifice in vedic literature was considered to be a strong and effective tool to get hold over the whole environment. Thus, the sacrifice changes the weather, controls the air pallution, prevents the deluges, droughts, storms and diseases Ail these things are the part of environment. Therefore, the treatment of environment in the vedic literature is perfectly alright and keeps the high standard and values.

Importance of Environment and Values in Education System.

19-2-96 to 21-2-96

सभाएँ, राजसभा, आरोग्य, पक्षी तथा पशु रक्षा, राजा तथा अन्य सभासदों के लिए अत्यन्त उपयोगी सुझाव, विद्या प्रसार, धर्म प्रसार, न्याय व्यवस्था, न्याय से राजा को लाभ, न्याय करना राजा का यज्ञ, न्याय की विधि। स्त्रियों का न्याय रानी करे, न्यायाधीश की योग्यता, न्याय करना सभी का कर्तव्य, युद्ध, युद्ध की आवश्यकता, स्त्रियों को भी युद्ध विद्या का ज्ञान, युद्ध में स्त्रियाँ, युद्ध के लिए सेना, युद्ध में चार प्रकार के व्यक्ति, सेनापति, युद्ध-यात्रा का समय, युद्ध सज्जा, युद्ध के उपकरण, धनुष आदि, व्यूह रचना, युद्ध का प्रकार, युद्ध के नियम, योद्धाओं को सुविधा और सत्कार, दण्ड व्यवस्था, राजा को दण्ड, राजा द्वारा अपराधी को विविध दण्ड, राजपुरुषों द्वारा दण्ड, दौत्य, यातायात अन्य ग्रन्थों में पानोल्लेख, कर-व्यवस्था, कर ग्रहण का प्रयोजन।

नवम अध्याय

समाज की पूर्णता के लिए आवश्यक विविध व्यवसाय कृषि, पशुपालन एवं विविध व्यवसाय, राष्ट्र रक्षा से सम्बन्धित व्यवसाय, सामान्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ जुटाने-वाले व्यवसाय, पाचक, स्त्री स्वयं भी भोजन बनाती है, पाचक का सम्मान, सौन्दर्य तथा मनोरंजक व्यवसाय, विद्या सम्बन्धी व्यवसाय, अध्यापक, उपदेशक, पुरोहित, वैद्य आदि, अन्य व्यवसाय, नौका-निर्माण, विविध व्यवसायों का अन्यत्र उल्लेख। कृषि, कृषि साधन, कृषि के प्रकार, उत्तम अन्न की प्राप्ति, सिंचाई, कृषि के प्रबन्धक तथा रक्षक, फसल का काटना तथा अनाज से भूसा पृथक् करना, भू-परीक्षण, अन्य वेदों में कृषि का उल्लेख, परवर्ती संहिताओं में ब्राह्मणों में कृषि का उल्लेख, पशुपालन, पशु रक्षा, पशु पोषण, वर्णन, पशुओं से लाभ, विविध शिल्प, शिल्प का उल्लेख, विभाग, अग्निबल विद्युत का शिल्प में नियोजन, अग्नि से भारवाहन करने का कार्य लेना, विद्युत से सिद्ध होनेवाला शिल्प कार्य, बलादि से निष्पन्न होनेवाला शिल्प, यान, वास्तुशिल्प, काष्ठादिशिल्प, प्रस्तर-शिल्प।

~ - 38
30

वैदिक—सोम का समीक्षात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—श्रीमती नीरांजना शर्मा
निर्देशक—(1) श्री पं० धर्मदेव विद्या मार्तण्ड
(2) डा० निरूपण विद्यालंकार
वर्ष—1977

प्रथम अध्याय

सोम के विविध नाम, स्वरूप और समन्वय

प्रथम अध्याय में सोम के विविध नामों पर विचार किया गया है जो कि संक्षेप में इस प्रकार हैं—

सोम

इस जगत को शास्त्रों में (अग्नीषोमात्मकं जगत्) अग्नि और सोम इन दो भागों में विभक्त किया गया है। संसार में जितना भी निर्माण कार्य हो रहा है वहाँ घट-घट रूप में ये उपरोक्त दो तत्त्व व दो विभाग अवश्य विद्यमान होंगे। जितने भी आर्द्र तत्त्व हैं, द्रव व रस रूप हैं, वे सोम विभाग में आते हैं तथा जितने शुष्क तत्त्व हैं वे अग्नि विभाग में परिगणित किये गये हैं (द्रष्टव्य—श० प० 1/6/3/23)।

सोम पर विचार करते हुए मैंने इसी व्यापक दृष्टिकोण को सामने रखा है। परन्तु यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि सोम का यह प्रयोग तो पारिभाषिक प्रतीत होता है क्या सोम कोई विशिष्ट तत्त्व भी है कि नहीं ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि सोम एक विशिष्ट तत्त्व भी है। वह एक सूक्ष्मतम तथा देदीप्यमान भौतिक तत्त्व है जो कि जल आदि द्रव पदार्थों से पृथक् है। जलादि द्रव पदार्थ उसके आयतन हैं। इन आयतनों को भी गौणीवृत्ति से सोम कह दिया गया है।

सर्वप्रथम विशेषणों, मन्त्रों व मन्त्र पदों के द्वारा सोम के सामान्य गुणधर्मों—स्वादिष्ट, मदिष्ठ तथा चेतनाप्रद आदि गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है।

तत्पश्चात् सोम का जो आदिम रूप है जिसे कि मन्त्रों में पूर्व्य, प्रत्न, प्रथम तथा अग्रिम आदि नामों से स्मरण किया गया है उनका संक्षिप्त विवेचन किया है।

सोम का आदिम रूप जो कि सृष्टि के प्रारम्भ में होता है वह शुद्ध पवित्र (पवमान) क्लेदन व स्नेहन गुण वाला तथा देदीप्यमान होता है। (उन्दी, क्लेदने, त्रिदन्धी दीप्तौ)। यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। सृष्टि में इस सोम के शुद्ध पवित्र रूप की सत्ता द्युलोक में होती है। अन्तरिक्ष तथा पृथिवी पर वह आदिम सोम मिश्रित व अशुद्ध हो जाता है। जिसे पवमान अर्थात् पवित्र करने की आवश्यकता होती है। इस सोम में कई विभाग होते हैं। इन विभागों को अंशु नाम से कहा जाता है। शाखायन ब्राह्मण में इन अंशुओं को दस विभागों में विभक्त किया जाता है। ये दस विभाग निम्न हैं—

1. प्रत्न
2. तृप्त-आपः
3. रस-व्रीहि
4. वृष-यव
5. शुक्र-पय
6. जीव-पशु
7. अमृत-हिरण्य
8. ऋक्
6. यजः
10. साम

ये उपरोक्त सोम के दस अंशु अर्थात् दस विभाग शाखायन ब्राह्मण (13/4) के आधार पर हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन मन्त्रों के आधार पर किया गया है। परन्तु वेदमन्त्रों में यह भी ध्वनित होता है कि सोम के अंशु दस संख्या से भी अधिक हैं। (देखो—अथर्व० 19/6/16)

पवमान

सोम का पवमान नाम उसकी शुद्धता व पवित्रता को दर्शाता है। जिसमें किसी प्रकार का मिश्रण न हो वह शब्द पूङ् पवने तथा पूङ् शोधने धातुओं से निष्पन्न होता है। जब इस शुद्ध पवित्र सोम का ही किसी से मिश्रण होता है तो उसके गुण धर्म उसमें आरोपित हो जाते हैं अतः इस मिश्रित व अशुद्ध सोम को छानने का विधान किया है, क्षेत्र भेद से छाननेवाली छाननियों का भी वर्णन किया गया है।

इन्दु

सोम में क्लेदन (आर्द्रता) तथा दीप्ति ये दोनों गुण जब दर्शाने होते हैं तब सोम को

इन्दु कह देते हैं। जल तथा अन्य रसों में जो आर्द्रता है वह इन्दु के कारण है। इसी दृष्टि से सोम को ऊर्णोवसान ऊर्णोवृणात: आदि शब्दों से अभिहित किया है। सोम में स्नेहन गुण होने से दीप्ति पैदा करना भी इसका कार्य है। (वि इन्धी दीप्तौ)। यह इन्दु इन्द्र का प्रमुख रूप से पेय है। वस्तुत: इन्द्र की सत्ता इन्दु के कारण है। इन्दवे द्रवतीतिवा इन्दौ रमते वा आदि इन्द्र की व्युत्पत्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि इन्दु का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी दृष्टि से इन्दु रिन्द्रो वृषा हरि: ऋ० 9/5/9 तथा इन्दविन्द्र इति० ऋ० 9/6/2 इत्यादि मन्त्रों की सुसंगति हो सकती है। एक प्रकार से इन्दु ही इन्द्र का रूप धारण करता है, यह ध्वनित होता है।

अन्धस्

अन्धस् शब्द सोमान्न का वाचक है। प्रमुख रूप से यह देवों का अन्न है। यास्क ने इसकी जो निरूक्ति (आ-ध्ये चिन्तायाम्) दी है अर्थात् इसका समग्र प्राणी निरन्तर ध्यान करते हैं तो यह सामान्य भौतिक अन्न का भी वाचक होता है।

कवि

सोम में अनेकों गुण व शक्तियां हैं। कवित्व शक्ति भी इसमें है। वेद की कवित्व शक्ति क्रान्तदर्शिता को बताती है। इस सोम रस को पान करनेवाले व्यक्ति में क्रान्तदर्शन की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसके लिये कोई प्रच्छन्न व तिरोहित नहीं रहता।

हरि

हरि शब्द सोम के हरित वर्ण को दर्शाता है। सोम का यह नाम सोमलतादि ओषधि समूहों की ओर संकेत करता है। हरणात् हरि व्युत्पत्ति करने पर उसके व्याधि शमन; चिन्ता, शोक आदि को तथा आवरणों के विनाश को बताता है। त्रिविध तापों को हरने से परमात्मा भी हरि है।

द्वितीय अध्याय

सोम के धाम

सोम सर्वत्र ओत-प्रोत है। इसे मन्त्रों में द्यावा पृथिवी का गर्भ बताया गया है। फिर भी प्राचुर्य आदि की दृष्टि से इसके विशिष्ट धाम बताये गये हैं। या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वो षधीष्वप्सु—ऋ० 1/91/4

द्युलोकस्थ सोम

दिवि सोमो अधिश्रितः—अथर्व० 14/1/1
दिवि वै सोम आसीत्—श० प०
तृतीयस्यमितो दिवि सोम आसीत्—तै० ब्रा० 1/1/3/20
दिवः कविः, दिवः पीयूषं—ऋ०

इत्यादि वाक्यों से द्युलोकस्थ सोम का वर्णन हुआ है। यह द्युलोकस्थ सोम शुद्ध, पवित्र तथा सर्वोत्कृष्ट माना गया है। पारसी धर्म में द्युलोक का दिग्दर्शन कराया गया है। द्युलोक से सोम का पृथिवी पर अवतरण, आदि।

अन्तरिक्षस्थ सोम—चन्द्रमा—चन्द्रमा को औषधियों का अभिपति माना है। इसकी रश्मियों द्वारा सोम औषधियों में प्रविष्ट होता है। जैमिनियोपनिषद् ब्राह्मण में चन्द्रमा के सोमरूप का विस्तृत वर्णन है। देवों द्वारा सोम (चन्द्रमा) का भक्षण, चन्द्रमा की वृद्धि तथा क्षय आदि का दिग्दर्शन हुआ है।

वायु में सोम

वायुमारोह धर्मणा—ऋ० 9/63/22
जुष्टो वायेव—9/70/8
इत्यादि मन्त्रों द्वारा दिग्दर्शन कराया है।

पार्थिव सोम

औषधीसोम—सोमलता विषयों पर विस्तार से विचार हुआ है। सुश्रुत संहिता में वर्णित सोमलता का वर्णन सोम रस निकालने का क्या प्रकार है इत्यादि विषयों पर विचार किया है। सोम लता की उपलब्धियों के लिए आधुनिक विद्वानों ने क्या-क्या प्रयत्न किये हैं तथा ईरानी वर्णन से भी अन्वेषण में सहायता ली गयी है। दक्षिण भारत में सोम सवन—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन इन तीन सवनों पर विचार किया है। सोम सवन करनेवाले अद्रि और ग्रावा क्या हैं भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के सोमरस का सवन करनेवाले अद्रि और ग्रावा भी भिन्न-भिन्न हैं।

तृतीय अध्याय

सोम परमात्मा

सब देव शक्तियाँ भगवान् की ही शक्तियाँ हैं। मन्त्र भी यही कहते हैं। उदाहरणार्थ—

तदेवाग्निंस्तदादित्यास्तद् वायुः स्तदुचन्द्रमाः

आदि मन्त्र दिखाये जा सकते हैं। इसी प्रकार सोम भी परमात्मा की ही एक शक्ति है। सोम सम्बन्धी मन्त्रों में प्रायः सभी मन्त्र परमात्मा के गुणगान में घटाये जा सकते हैं। हमने उदाहरणार्थ कुछ ही मन्त्रों को यहाँ प्रस्तुत किया है।

सोम और मानव

सोम सूक्तों में कई स्थलों पर सोम मनुष्य रूप में भी चित्रित हुआ है। वस्तुतः सोम मनुष्य में रस रक्तादि के माध्यम से औषध रूप में परिणत हो कहीं ब्रह्म शक्ति, कहीं क्षात्र शक्ति को, कहीं कवित्व व विद्वत्ता को, कहीं कला-कौशल को प्रकट करता है। इन शक्तियों से युक्त मनुष्य को सोम कह दिया गया है।

सोम और सुरा

सोम और सुरा पृथक्-पृथक् हैं या एक ही हैं यह एक बड़ा विवादास्पद विषय है। विद्वानों में तो इस सम्बन्ध में मतभेद ही हैं पर शास्त्र में भी ऐसे उद्धरण व वाक्य आते हैं जिनसे हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। वहाँ सुरा शब्द अच्छे अर्थ में भी है और बुरे अर्थों में भी है। स्वामी दयानन्द ने अपने आप में सुरा को सोम माना है। मद्य को उन्होंने बुरा माना है। इस विषय का पक्ष-विपक्ष में मन्त्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरणों से विवेचन किया है। आयुर्वेद ग्रन्थों से भी इसके गुणावगुण को दर्शाया है।

विश्वरूप

त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्षा विश्वरूप के आख्यान को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

शरीर में सोम

शरीर सोम ओज, श्लेष्मा, इन्द्रिय रस आदि रूपों व आगमनों में रहकर चेतना आदि का प्रदाता है। मस्तिष्क में बुद्धि आदि का सहायक है। शास्त्र में आता है— शीर्षकचत्वारः कूपाः — श० प० 3/5/4/1 ये चार कूप वैण्ट्रिकल्स हैं। आयुर्वेद ग्रन्थों में भी ओजः सोमात्मकं स्निग्धं आदि रूपों में इसका स्तवन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

सोम के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों के उद्गार

श्री अरविन्द और सोम

श्री अरविन्द सोम का प्रमुख रूप से आध्यात्मिक रूप ही उजागर करते हैं। उनका कहना है कि सोम आनन्द के रस का आमृत रस अधिपति है। वह आत्मा को धारण

करता है और उस आत्मा में से सब दिव्य रचना को उत्पन्न कर देता है। उनका यह कहना है कि 'अतप्रतनूर्नतदामो अश्नुते' अर्थात् जिस प्रकार कच्चा घड़ा पानी को नहीं थाम सकता उसी प्रकार जिसका शरीर संतप्त नहीं हुआ है उसका आस्वादन नहीं कर सकता। 'श्रुतास इद् वहन्तः तत् समाशत' केवल वे ही जन जो अग्नि में पक चुके हैं उसे धारण कर पाते हैं। शरीर के अन्दर उँड़ेला हुआ दिव्य जीवन का रस एक तीव्र उमड़ कर प्रवाहित होनेवाला प्रचण्ड आनन्द है। उस शरीर में यह नहीं थामा जा सकता जो कि जीवन की बड़ी-से-बड़ी अग्नि ज्वालाओं में तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्ट सहन और अनुभव द्वारा इसके लिए तैयार हो पाया है।

महर्षि दयानन्द और सोम

महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में जितना वे कर चुके हैं। [यजुर्वेद सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद मण्डल (7म) 61 सूक्त के 2य मन्त्र तक] उसमें इतस्ततः आये सोम मन्त्रों के आधार पर सोम के अनेकों अर्थ किये हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों ने विभिन्न क्षेत्रों के आधार पर सोम के तद्नुकूल अनेकार्थ प्रदर्शित किये हैं उसी प्रकार स्वामी दयानन्द के भी सोम शब्द के अनेकार्थ अनेक क्षेत्रों के द्योतक हैं। यथा—परमात्मा, यज्ञ, अध्ययन, अध्यापन, संसार, जन, राजा, सेना प्रेरक, विद्वान, औषधी रस, सोमलता के 24 भेद आदि।

डा० रेले

डा० रेले सोम के मानव शरीरान्तर्गत स्वरूप को दर्शाते हैं, उनके मन्त्र में मस्तिष्क द्रव (Ceretere spinal fluid) सोम रस है। वे लिखते हैं द्रव—According to the biological theory the nervus system which esembles a tree is personified as a soma plant and its secretion ceretere-spinal fluid within it is to be identified as the soma-juice.

श्री कपालि शास्त्री

श्री कपालि शास्त्री अपने ऋग्वेद के सिद्धांजन भाष्य की भूमिका में सोम का जो स्वरूप प्रदर्शित करते हैं वह श्री अरविन्द की तरह आध्यात्मिक स्वरूप का है।

श्री माधव पण्डित

श्री माधव पण्डित श्री अरविन्द के अनुयायी हैं। उन्हीं के समान ये भी सोम के आध्यात्मिक रूप को अधिक उजागर करते हैं। वे लिखते हैं—

It is this sap of delight, rasa, the draught of all experience and life that is called soma in the parlence of the vedic mystics.

The deity presiding over this rasa of life is soma, the Lord of delight.

पंचम अध्याय

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त सोम सम्बन्धी उपाख्यान

इस अध्याय में शतपथ ब्राह्मण, जेमिनीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में आये द्युलोक से गायत्री श्येन द्वारा सोमाहरण सम्बन्धी अनेकों उपाख्यानों का स्पष्टीकरण किया गया है। सोम राजा का आतिथ्य, सुपर्ण का देह संवात, आदि कथानकों को देकर उनका स्पष्टीकरण किया गया है।

षष्ठ अध्याय

सोम और जगत्

यह जगत् दो तत्त्वों से मिलकर बना है। अग्नि और सोम इसी कारण अग्निषोमात्मकजगत् ऐसा प्रसिद्ध है। सोम क्लेदन आर्द्र करनेवाला है। बिना आर्द्रता के दो तत्त्वों का सम्मिश्रण व मेल हो ही नहीं सकता। सृष्टि उत्पत्ति में यह सोम सीमेण्ट गारे आदि को मिलाने में जल के समान कार्य करता है।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में इन्द्र देवता का अध्ययन

शोधकर्ता—कामजित
निर्देशक—डॉ० सत्यव्रत राजेश
वर्ष—1987

शोध की दिशा तथा शोधप्रबन्ध का सारांश

इन्द्र देवता कलेवर तथा महत्व दोनों ही दृष्टियों से वेद का एक प्रमुख देवता है। चारों वेदों में इन्द्र के मूल मन्त्र तथा सहचारी देवों के साथ स्तुतिवाले मन्त्र कुल मिलाकर लगभग पाँच सहस्र हैं, जो वेदों की सम्पूर्ण मन्त्रसंख्या का लगभग चतुर्थांश होता है। वैदिक इन्द्र पर प्राचीनकाल से ही विचार होता रहा है और आधुनिक युग के भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पर अपनी लेखनी उठायी है। इस पर कतिपय शोध निबन्ध भी लिखे गये हैं। तथापि अब तक जो कुछ कार्य हुआ था वह कार्य या तो इन्द्र के वर्णनों एवं इन्द्र की गाथाओं का संकलन था, अथवा इन्द्र के कुछ वैदिक वर्णनों को आकाशीय विद्युत् या सूर्य के पक्ष में घटाया गया था, अथवा इन्द्र को किसी प्राकृतिक शक्ति का अभिमानी देवता स्वीकार करके वेदमन्त्रों का भाष्य कर दिया गया था। इन्द्र देवता पर व्यापक दृष्टिकोण से लेखनकार्य प्रायः नहीं हुआ था।

वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में 19वीं ईस्वी शती के वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती की एक विशेष देन है। उनसे पूर्व अधिकांश वेदभाष्यकारों के भाष्य प्रायः कर्मकाण्डपरक थे, जिससे यह भ्रान्ति होती थी कि वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। दयानन्द के अर्थ प्रायः सभी वेदार्थ-प्रक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए किये गये हैं। वे वेदों में गूढ़ अध्यात्मविद्या के साथ-साथ सृष्टिविद्या, पृथिव्यादि-लोकभ्रमणविद्या, गणितविद्या, नौविमानादिविद्या, विद्युद्विद्या, वैद्यक-विद्या, राजनीतिविद्या, यज्ञविद्या, कृषिविद्या, शिल्पविद्या, अध्ययनाध्यापनविद्या आदि विविध विद्याओं को स्वीकार करते हैं। वेदों में जो इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि,

वायु, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु आदि विभिन्न देव वर्णित हैं, उन्हें भी दयानन्द ने एक नवीन रूप में देखा है। उन्होंने अपने वेदभाष्य में इन्द्रदेवताक मन्त्रों की जो व्याख्याएँ की हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार वेदों में इन्द्र देवता परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, राजा, सेनापति, अमात्य, न्यायाधीश, सभापति, योद्धा, अध्यापक, उपदेशक, विद्वान, सूर्य, विद्युत्, वायु, गृहपति, वैद्य, कृषक आदि अर्थों का वाचक है, तथा वेदों में इन सभी के कर्तव्य-कर्मों या गुण-धर्मों का उपदेश किया गया है। दयानन्द ने वैदिक देवों को इस प्रकार व्यापक रूप में ग्रहण करने के सूत्र स्वयं वेद से तथा ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त आदि प्राचीन साहित्य से प्राप्त किये थे।

दयानन्द के वेदभाष्य पर कई लोगों की ओर से यह आपत्ति उठाई जाती है कि उसमें इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवों के मनमाने अर्थ कर लिये गये हैं। परन्तु अनुसंधान से यह ज्ञात होता है कि वैदिक देवों के दयानन्दकृत अर्थ प्रमाण-परिपुष्ट हैं। कतिपय अर्थों के लिए उन्होंने स्वयं वेद, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र का अर्थ वायु करते हुए उन्होंने वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ के निम्न प्रमाण दिये हैं।

०विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। ऋग्. 1/14/10

(द्रष्टव्य, ऋग्वेदभाष्य 1/3/6, 15/1)

०यो वे वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः। श. ब्रा. 4/1/3/19

(द्रष्टव्य, ऋग्वेदभाष्य 1/21/1)

दयानन्द की इसी शैली से निर्देश पाकर हमने इन्द्र के दयानन्दकृत प्रायः सभी अर्थों के लिए परिश्रमपूर्वक वेद, ब्राह्मणग्रन्थ आदि से प्रमाण खोजकर लिखे हैं। यह इस शोधपत्र की एक विशेष देन समझी जा सकती है।

वेदों की प्रतिपादन-शैली ऐसी नहीं है कि किसी एक विषय के सभी मन्त्र एक स्थान पर रख दिये गये हों। इसीलिए दयानन्द के वेदभाष्य में भी ऐसा नहीं हो सका है कि परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव, राजप्रजाकर्म, शिक्षा, शिल्प, वर्णव्यवस्था आदि सब विषय पृथक्-पृथक् व्यवस्थित रूप में किसी एक स्थान पर प्रतिपादित हुए हों। किसी विषय का निरूपण करने के लिए इन्द्र देवता के सभी मन्त्रों एवं उनके भाष्य को देखना तथा नियमानुसार विभाजन करके पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत लिखना आवश्यक होता है, जो पर्याप्त जटिल कार्य है। तथापि प्रयास-पूर्वक यह कार्य करके तदनुसार शोध प्रबन्ध में विभिन्न अध्यायों को निर्धारित कर प्रत्येक विषय में पुष्कल सामग्री देने का यत्न किया गया है।

स्वामी दयानन्द ने प्रत्येक मन्त्र के भाष्य में यह क्रम रखा है कि सर्वप्रथम वे मन्त्रार्थभूमिका अर्थात् एक-डेढ़ पंक्ति में मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय संस्कृत-भाषा में आर्यभाषानुवाद सहित लिखते हैं। तत्पश्चात् सस्वर मन्त्रपाठ तथा उसका सस्वर पदपाठ देते हैं। तदनन्तर मन्त्र में जिस क्रम से पद आते हैं उसी क्रम से उनका

संस्कृत-पदार्थ लिखते हैं। फिर अन्वय पृथक् से दर्शाते हैं। उसके बाद संस्कृत में भावार्थ लिखते हैं। इसके बाद आर्यभाषा में अन्वयक्रम से ढाला हुआ पदार्थ तथा संस्कृत-भावार्थ का आर्यभाषानुवाद देते हैं।

तथापि प्रस्तुत दयानन्द-भाष्य अनेक स्थलों पर अत्यन्त अस्पष्ट एवं दुर्बोध है। भाष्य की आर्यभाषा पण्डितों की बनायी हुई है, वह भी अधिकांश महर्षि के शरीरांत के पश्चात् बनी है, जिसे महर्षि संशोधित नहीं कर सके। वह कई स्थानों पर संस्कृत भाष्य से मेल नहीं खाती है और कई स्थलों पर इतनी दुर्बोध है कि उसका कुछ अभिप्राय हृदयंगम नहीं होता। संस्कृत-पदार्थ भी अन्वयानुसारी न होने से उसका तात्पर्यार्थ समझ पाना कठिन होता है। दयानन्द भाष्य के शोधकर्ता के सम्मुख इस प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। तथापि बड़े धैर्य और परिश्रम के साथ हमने इन्द्रदेवताक मन्त्रों के दयानन्द-भाष्य के मर्म में प्रवेश करने का प्रयास किया है। प्रत्येक अध्याय में प्रतिपादित विषय संक्षेपतः निम्न प्रकार है।

प्रथम अध्याय—यह अध्याय प्रवेशात्मक है। वैदिक देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रचलित अभिमानिदेवतावाद, भौतिकवाद, अध्यात्मवाद आदि को दर्शाकर वेदार्थविषयक अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ, ऐतिहासिक आदि प्रक्रियाओं का निरूपण किया है। तदनन्तर दयानन्द से पूर्ववर्ती भाष्यकार स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, उवट, भट्टभास्कर, माधव, सायणाचार्य, भरतस्वामी, महीधर आदि किस दृष्टिकोण से अपने-अपने वेदभाष्य करते रहे हैं, इसका उल्लेख कर वेदार्थ के सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों के प्रयत्न का दिग्दर्शन कराया गया है। फिर स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताओं के प्रसंग में वैदिक देव-देवियों के स्वरूप-निर्धारण, मन्त्रों की अनेकार्थक व्याख्या, वेदों में लौकिक इतिहास का निषेध, पूर्वकृत विनियोगों से स्वतन्त्र व्याख्या आदि का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय—ब्राह्मणग्रन्थकारों ने तथा निरुक्तकार यास्काचार्य ने वैदिक इन्द्रदेवता के सम्बन्ध में जो उद्भावनाएँ या स्थापनाएँ की हैं, उनका वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के सन्दर्भ उद्धृत करते हुए यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मणकारों के मत में वैदिक इन्द्र यज्ञ में आह्वनीय अग्नि, यजमान या उद्गाता है, अन्तरिक्ष में वायु है, द्युलोक में आदित्य है, शरीर में प्राण, मन और वाणी है, समाज में ब्राह्मण है, राष्ट्र में राजा है। निरुक्त में प्रतिपादित इन्द्र के स्वरूप पर विचार करते हुए इन्द्र के निर्वचनों का स्पष्टीकरण इन्द्र के कर्म, इन्द्र-वृत्र-युद्ध, इन्द्र द्वारा तीस सरोवरों का पान, इन्द्र-अगस्त्य-संवाद, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में यह भी दर्शाया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ तथा निरुक्त के संकेत दयानन्द की भाष्यशैली के लिए बहुमूल्य सिद्ध हुए हैं।

तृतीय अध्याय—इन्द्र की परमेश्वरवाचकता पर प्रकाश डाला गया है। इन्द्र का परमेश्वर अर्थ होने में प्रमाण देकर, इन्द्र शब्द के निर्वचन को परमेश्वर-पक्ष में संगति दर्शाकर, दयानन्द भाष्य में परमेश्वर-पक्ष में व्याख्यात इन्द्र के विशेषणों तथा उनसे सूचित होनेवाले परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर स्वामी दयानन्द ने इन्द्र देवता के मन्त्रों का परमेश्वर पक्ष में अर्थ करते हुए उसे परमेश्वर का स्वरूप, महत्व आदि अपने वेदभाष्य में प्रकाशित किया है, उसका सप्रमाण विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय—इन्द्रदेवताक मन्त्रों के भाष्य में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित विस्तृत राजधर्म का निरूपण इस अध्याय में किया गया है। इन्द्र का राजा अर्थ करने में प्रमाण, इन्द्र के निर्वचनों को राजा पक्ष में चरितार्थता एवं इन्द्र के विशेषणों से सूचित राजा के गुणों का प्रारम्भ में वर्णन है। तदनन्तर प्रजा द्वारा कैसे मनुष्य को राजा चुना जाना चाहिए, यह दर्शाते हुए राजा के कतिपय विशिष्ट गुणों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में अमात्यों की योग्यता और अधिकार, राज्यकर्मचारियों की योग्यता, न्याय-व्यवस्था, राजदण्ड, कर-व्यवस्था, व्यापार, शिल्पविद्या के विकास, विमानादि के निर्माण और प्रयोग, सेनापति की योग्यता, सेना-संगठन, युद्ध-नीति, शत्रु-विजय, चक्रवर्ती राज्य आदि राजनीति के महत्त्वपूर्ण विषयों का भी दयानन्दकृत वेदभाष्य के अनुसार प्रतिपादन किया गया है।

पंचम अध्याय—महर्षि दयानन्द ने अनेक वेदमन्त्रों में इन्द्र के अर्थ विद्वान्, अध्यापक, उपदेशक आदि लेकर बड़े विस्तार से शिक्षा विषयक सभी आवश्यक तत्त्वों को प्रदर्शित किया है, जबकि इस विषय में पूर्ववर्ती वेदभाष्यों से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। कोई भी राष्ट्र ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से ही उन्नति कर सकता है, यह दयानन्दभाष्य से स्पष्ट हो जाता है। राजा द्वारा विद्या एवं धर्म के प्रचारार्थ विद्वानों की नियुक्ति, विद्वानों का यथोचित सत्कार, अध्यापक और उपदेशक पद पर नियुक्त होने की आवश्यक योग्यता, अध्यापक एवं उपदेशकों के कर्तव्य, शिक्षक और शिष्य का पारस्परिक व्यवहार आदि महत्त्वपूर्ण विषय इस अध्याय में चर्चित किये गये हैं, जो आज की शिक्षा समस्याओं पर भी उत्तम समाधान प्रस्तुत करते हैं।

षष्ठ अध्याय—यह अध्याय दयानन्द के वेदभाष्यों में इन्द्र देवता से सूचित अन्य विविध विधियों से सम्बन्ध रखता है। सर्वप्रथम इन्द्र का सूर्य अर्थ दर्शाते हुए सूर्य द्वारा लोकों के धारण, वृष्टिकर्म, काल-संविभाग, सूर्य की स्थिरता, सूर्य के शिल्पविद्या में प्रयोग आदि वेदोक्त विषयों का प्रतिपादन है। तदनन्तर स्वामी दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ विद्युत् लेकर उसके द्वारा भूयानों, जलयानों, विमानों एवं अन्य विविध कलायन्त्रों को चलाने तथा विद्युत् से चलनेवाले शस्त्रास्त्रों

का अनाग का मन्त्रों में जो वर्णन किया है, उसका निरूपण है। इन्द्र का वायु अर्थ करते हुए वायु की सामान्य एवं वैज्ञानिक विशेषताएँ जो दयानन्द-भाष्य में वर्णित हैं, उनका भी दिग्दर्शन है। इन्द्र देवता से सूचित गृहस्थ धर्म का प्रतिपादन करते हुए स्वयंवर-विवाह, पति-पत्नी की योग्यता, उत्तम सन्तान, पति-पत्नी के व्यवहार आदि पर प्रकाश डाला गया है। इन्द्र के दयानन्द-प्रदर्शित जीवात्मा, वैद्य, धनिक, कृपक आदि अर्थों द्वारा इनके कर्तव्यों का भी प्रतिपादन है।

सप्तम अध्याय—महर्षि ने अपने वेदभाष्य में कतिपय इन्द्रदेवताक मन्त्रों में श्लेपालंकार से इन्द्र के एकाधिक अर्थ करते हुए द्वयर्थक या बह्वर्थक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं। यथा इन्द्र के कहीं परमेश्वर और सूर्य, कहीं परमेश्वर और वायु, कहीं परमेश्वर और विद्युत्, कहीं परमेश्वर, वायु और सूर्य, कहीं परमेश्वर, सूर्य, अग्नि, प्राण और वायु, कहीं परमेश्वर और विद्वान् पुरुष, कहीं परमेश्वर और सभासेनाध्यक्ष राजा, कहीं परमेश्वर और सेनापति, कहीं विद्वान् पुरुष, सेनापति और सूर्य, कहीं राजा और अध्यापक दो-दो, तीन-तीन या अधिक-अधिक अर्थ किये हैं। वेदमन्त्रों की अनेकार्थक व्याख्याएँ यास्काचार्य आदि ने भी की थीं, परन्तु दयानन्द की जैसे अन्य वैदिक विषयों में उल्लेखनीय देन है वैसे ही वेदों की अनेकार्थता के प्रतिपादन में भी है, क्योंकि उन्होंने श्लेपालंकार का प्रयोग अपने वेदभाष्य में जितना किया है उतना अन्य किसी आचार्य ने अब तक नहीं किया था। दयानन्द की इस अनेकार्थक योजना को इस अध्याय में दर्शाया गया है।

अष्टम अध्याय—प्रमुख वैदिक देवों इन्द्र, अग्नि आदि की वेदों में जैसे स्वतन्त्र स्तुति मिलती है, वैसे ही क्वचित् इनकी किन्हीं सहचारी देवों के साथ भी स्तुति पाई जाती है। इन सहचारी देवों को ही निरुक्तकार ने संस्तविक देव कहा है। निरुक्त के अनुसार इन्द्र के संस्तविक देव अग्नि, सोम, वरुण, पूषन्, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु हैं; अतः वेद में इन्द्राग्नी, इन्द्रासोमा, इन्द्राकुत्सा, इन्द्राविष्णु और इन्द्रवायु के रूप में इन्द्र को सहचरित स्तुति उपलब्ध होती है। इन्द्राग्नी का अर्थ दयानन्दभाष्य में वायु-वह्नि, प्राण-विद्युत्, वायु-विद्युत्, अध्यापक-उपदेशक, विद्यार्थी-अध्यापक, सभापति-सेनापति आदि किया गया है। इन्द्रवायु से महर्षि दयानन्द सूर्य-पवन, अग्नि-पवन, विद्युत्-पवन, अध्यापक-उपदेशक, राजा-सेनापति, राजा-राजमन्त्री, योगोपदेष्टा-योगाभ्यासी आदि अर्थ लेते हैं। इन्द्रावरुणी के सूर्य-चन्द्रमा, अग्नि-जल, वायु-जल, राजा-अमात्य, राजा-सेनापति एवं राजा-प्रजा अर्थ किये गये हैं। इन्द्रा बृहस्पति से स्वामी जी राजा-प्रधानमन्त्री और राजा-उपदेशक अर्थ ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार अन्य युगलों के भी विभिन्न अर्थ दृष्टिगत होते हैं। इन सबका सोदाहरण अध्ययन इस अध्याय में किया गया है।

नवम अध्याय—उपसंहार रूप में इन्द्र से सम्बद्ध कतिपय अवशिष्ट विषयों

पर इस अध्याय में विचार किया गया है जो इस प्रकार हैं—इन्द्र का जन्म, इन्द्र के शत्रु, इन्द्र का सोमपान, जलों के झाग से नमुचि का वध, दधीचि की हड्डियों से वृत्र-संहार, इन्द्र के हरि। अन्त में इन्द्रदेवताक मन्त्रों के भाष्य में दयानन्द की जो विशिष्ट देन हैं, उनका संक्षेप में परिचय दिया गया है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से जो महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली की उज्ज्वल गरिमा एवं वेदार्थ के सम्बन्ध में एक नवीन दिशा के सूत्रपात की झाँकी मिलती है, वह वेद के विद्यार्थी और शोधकर्ता को अवश्य चमत्कृत करेगी तथा महर्षि दयानन्द युग-युग तक वेदार्थ में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते रहेंगे, ऐसी हमारी आशा है।

...का अनुभव किया, वे भी मानव जीवन की कोई ऐसी निश्चित योजना प्रस्तुत नहीं कर सके जिसका अवलम्बन करके मानव व्यष्टि एवं समष्टिगत अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि कर सके।

इसके विपरीत वैदिक संस्कृति के प्रणेता तत्त्वदर्शी महर्षियों ने आत्मानुभूति व अन्तर्दर्शन से इस समस्त चराचर सृष्टि के मूल में निहित सृष्टि का निमित्त कारण, सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी उस परमसत्ता का साक्षात्कार किया जिसके नियन्त्रण में यह निखिल ब्रह्माण्ड चल रहा है। उसके नियम—ऋत—अटल एवं शाश्वत हैं। प्राणिमात्र उसी परमपिता परमात्मा की सन्तान रूप है। ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी है। वास्तविक दया के लिए न्यायव्यवस्था परमावश्यक है। यह बात लोकसिद्ध है। अतः उसकी अटल न्यायव्यवस्था-कर्म सिद्धान्त के फलस्वरूप ही प्राणी विभिन्न योनियों में संसरण करता है। वस्तुतः समस्त प्राणियों में निहित आत्मा एक है। वह अजर-अमर है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मानुसार ही विभिन्न शरीरों को प्राप्त होता है। अतः सब प्राणियों में एक आत्म तत्त्व के दर्शन करना तथा सबको परमपिता की सन्तान समझकर उनमें भ्रातृभाव रखना वैदिक दर्शन की शिक्षा है। इसके साथ ही वैदिक कर्म सिद्धान्त सब प्रकार की नैतिकता का मूल है।

भौतिकता और आध्यात्मिकता का सन्तुलन और सामंजस्य वैदिक संस्कृति की ऐकान्तिक विशेषता है। यहाँ मानव-जीवन को एक अविच्छिन्न ईकाई मानकर उसके शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक—सर्वविध—विकास की योजना बनायी गयी है। वैदिक आश्रम व्यवस्था जहाँ व्यक्ति के पूर्ण विकास की व्यवस्था है वहाँ वैदिक वर्ण व्यवस्था मानव के सामूहिक विकास की। दोनों एक साथ चलती हैं।

वैदिक संस्कृति का प्राण है—'यज्ञ'। यह मात्र कर्म-काण्ड व बाह्य न होकर मनुष्य की आत्मा का अंग भी है और व्यक्ति को—सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय—त्याग की प्रेरणा देता है।

एक ईश्वर में अटूट विश्वास एवं उसकी उपासना, परमात्मा की अटल व्यवस्था ऋत तत्त्व के अनुसार सत्यमय जीवन, सब प्राणियों में समदृष्टि, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति मानना, अष्टंगयोग द्वारा व्यष्टि-समष्टि का सर्वविध उत्कर्ष करना ही वैदिक समाजवाद का तथा वैदिक शासन व्यवस्था का भी मूल मन्त्र है।

वेद में मानव के नैतिक और आत्मिक विकास के लिए जहाँ एक सुनियोजित आचारशास्त्र का विधान है वहाँ मानव के भौतिक अभ्युदय के लिए विविध प्रकार के विज्ञान, शिल्प उद्योग एवं कलाएँ भी वेद में वर्णित हैं, जिनका वर्णन संक्षिप्त रूप से इस ग्रन्थ में किया गया है।

45 - 45

वैदिक संहिताओं में योग-तत्त्व

प्रस्तुतकर्ता—योगेन्द्र पुरुषार्थी
निर्देशक—प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
वर्ष—1980

एक तुलनात्मक परिशीलन का संक्षिप्त विवरण

जीवमात्र के अन्तःकरण में अनादिकाल से अन्तर्निहित क्लेशमात्र के लिए 'घृणा' (द्वेष) और अक्षयसुख पाने की 'कामना' (राग), बुद्धिप्रधान मनुष्य में जन्म पाकर स्वभावतः उभर आती है; अतः प्रत्येक मानव क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता और आनन्दमयी 'अक्षयशान्ति' पाने के लिए कटिबद्ध दीखता है किन्तु उसके हाथ प्रायः असफलता ही लगती है। क्योंकि प्रकृति से प्रवाहित काम-क्रोधादिक 'विषयविकारों' से अभिभूत होकर किये गये उसके अहंभावयुक्त, अनृतावरण से आच्छादित, 'क्लिष्टकर्म' तापत्रय को ही उपजाते हैं अतः फलविपाक के रूप में मानव को कष्ट ही भोगना पड़ता है; जो यत्किंचित् सुख उसे इस भोगात्मक जगत् में मिलता भी है; वह क्लेश मिश्रित होने से अन्तःशान्ति प्रदान नहीं कर पाता।

सृष्टि के आदि में सर्वज्ञ करुणानिधि जगदीश्वर ने मानवमात्र को इस अनागत-आपत्ति से सचेत करते हुए वैदिक संहिताओं में उन उपयुक्त दिव्य-साधनों का उपदेश दे दिया है, जिन्हें निज जीवन में चरितार्थ करके लेने पर मनुष्य अपने क्लेश-कर्मों को समूल नष्ट करके परमानन्दमय अक्षय शान्त पद 'मोक्ष' को हस्तगत कर सकता है।

मानव जीवन की चिरन्तन अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए दिव्य-साधनरूप योगविद्या ही अन्यतम उपाय है। यही योगविद्या परमानन्द प्राप्ति तथा ब्रह्म-साक्षात्कार की साधिका है। अपौरुषेय वेदों के गूढ़ रहस्यों को अपनी अल्पज्ञतावश न समझ कर कुछ विद्वान यह घोषित कर चुके हैं कि इन वेदों में अध्यात्मविद्या का अभाव है। निराशाजनक भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के लिए शोध-प्रबन्ध का विषय-प्रवेश समुचित मीमांसा करके आशाजनक निर्भ्रान्त वैदिक विचार प्रस्तुत करता है।

आज भारतीय संस्कृति के हितैषी वर्तमानकालीन शिक्षा एवं सामाजिक दोष चोरी-जारी, बलात्कार एवं मातृशक्ति का घोर अपमान देखकर नितान्त विगलित हो रहे हैं। जगह-जगह एक संस्कृति सभ्यता दूसरी सभ्यता संस्कृति को निगलना चाहती है, मानवता का दर्शन होना कठिन हो गया है। ऐसी व्यथित अवस्था का एकमात्र कारण नैतिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक विद्या का अभाव ही है। इस अभाव की पूर्ति हेतु योगाभ्यास की परिपाटी एवं योगमय जीवन व्यतीत करने की परमावश्यकता है। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए उपजीव्य यह विद्या वैदिक काल से मार्गदर्शिका रही है। ऋषि-महर्षियों ने सदैव इसी विद्या के अनुसार जीवन व्यतीत किया है। यह कोई नवीन विद्या नहीं, इसके अनेकों प्रमाण ऋग्वेदादि संहिताओं में पुष्कलमात्रा में मिलते हैं।

भारतीय संस्कृति की दृढ़ आधारशिला योग-विद्या की अपनी एक गुरुपरम्परा भी है। समस्त विचार सारणी से यह तथ्य सामने आया है कि योगविद्या का आदि स्रोत वेद ही है। एवं आदि प्रवक्ता 'हिरण्यगर्भ' परमात्मा है।

हिरण्यगर्भ से लेकर पतंजलि तक यह योग परम्परा वैदिक पद्धति के अनुसार प्रचलित रही। ह्रास की सम्भावनाओं से पतंजलि ऋषि ने इन वैदिक सिद्धान्तों को सूत्ररूप में निबद्ध किया, उन्हीं सूत्रों (योगदर्शन) पर प्रामाणिक भाष्य वेदव्यास ने लिखा, जिसकी टीका-टिप्पणी ही अद्यावधि योगाभिलाषियों का मार्गदर्शन कर रही है। योगदर्शन में अष्टांगयोग का प्रतिपादन प्रमुख रूप से किया गया है। परन्तु वैदिक उपनिषदों में पंचकोष शुद्धि को भी मुक्ति के साधनों में विशेष प्रभावकारी माना है। इन दोनों पद्धतियों को आश्रय मानकर प्रथम खण्ड के पाँच अध्यायों में पंचकोष निरूपण वैदिक संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में किया है।

स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमयकोष सम्पूर्ण धर्म-कर्म तथा आन्तरिक कोषों का आधार है अतः साधना की दृष्टि से अन्नमयकोष के अवयवों का ज्ञान साधक के लिए आवश्यक है। वैदिक संहिताओं में शरीर के योगोपयोगी अंगों का विशेष विवरण मिलता है। हृदयादि अंगों का कार्य तथा साधना में उपयोगिता को शरीर-विज्ञान की दृष्टि से स्पष्ट कर दिया है। स्थूल शरीर को पुष्ट तथा साधना के लिए उपयुक्त बनाने के लिए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शौच, तप आदि साधनों की उपयोगिता का उल्लेख किया गया है।

स्थूल शरीर को क्रियाशील रखने में प्राणों का सर्वोपरि स्थान है। प्राण ही जीवन को धारण किये हुए हैं। प्राणों की पुष्टि से ही शरीर की स्वस्थता, बलिष्ठता तथा सार्थकता है। प्राणों की पुष्टि के लिए प्राणायाम करना तथा प्राणों की देवता भावना से साधना करना आवश्यक है। स्तम्भवृत्ति प्राणायाम प्राण की सूक्ष्मता के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

प्राण का मन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होने से प्राणायाम के द्वारा प्राण को

सूक्ष्मतर करके हृदय, भ्रकुटि आदि स्थान विशेषों पर रोकने से मन भी स्थिर हो
जाता है। मनोनिग्रह की सफल साधना के लिए उषाकाल से पूर्व उठकर, रुचिकर
स्थान पर तीव्र वैराग्य भावना से आत्मसमर्पणपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। भोजन
सात्विक तथा परिमित ही सहायक है।

मन के वाद बुद्धि का परिशोधन आवश्यक है। सात्विक बुद्धि ही साधना में
सहायक होती है अतः बुद्धि की सात्विकता के लिए सात्विक पदार्थों का सेवन, सतत
'ॐ' पद का जाप, आलस्य को त्याकर प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा करना आव-
श्यक साधन है। विज्ञानमयकोश की सिद्धि के लिए श्रद्धा और जिज्ञासु भावना
अत्यधिक सहायक है।

सात्विक बुद्धि से आत्मतत्व का अन्वेषण सम्भव है, सात्विक बुद्धि सम्पन्न
करके हृदय स्थान में ध्यान तथा समाधि के निरन्तर-निर्विघ्न अभ्यास से आत्मतत्त्व
की अनुभूति होने लगती है। आत्मतत्त्व का स्थान हृदय है अतः वहीं उसकी खोज
करनी योग्य है अन्यत्र नहीं। इस प्रकार संक्षेप में प्रथम खण्ड में पंच कोश शोधन
का अभ्युपाय निरूपित है।

शोध-प्रबन्ध का द्वितीय खण्ड अष्टांग योग का परिशीलन प्रस्तुत करता है।
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यमों का साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है।
वेदों में पाँचों यमों का सुन्दर परिशीलन किया गया है। यमों का शारीरिक, वाचिक
तथा मानसिक परिपालन साधना को दृढ़ करता है तथा सामाजिक सम्बन्ध को
सुखकारी बनाता है। नियमों का पालन साधक की आन्तरिक स्थिति को परिपुष्ट
करता है। सब प्रकार की पवित्रता ही पवित्रतम परमेश्वर से मिलाने में सहायक
है। वेद में योगयज्ञ के यजमान को शुद्ध पवित्र होकर बैठने का आदेश दिया है।
ऐषणाओं की शान्ति के लिए, वृत्तियों को विराम देने के लिए सन्तोष अत्यधिक
सहायक है यह अनुभवसिद्ध है।

मोक्षशास्त्रों का अध्ययन, आत्मचिन्तन तथा ॐ का जाप साधना को समृद्ध
करते हैं, इसके साथ ही ईश्वरार्पण की भावना समाधि की प्राप्ति में नितान्त सहायक
हैं।

यम-नियमों का पालन व्यावहारिक जीवन में करके साधना की अग्रिम
स्थितियों के लिए कोई एक स्वस्तिक या सुखासन का निश्चित अभ्यास लगभग 3
घण्टे बैठने का करना चाहिए।

स्थिर आसन से बैठकर योग्य गुरु से साधना में सहायक प्राणायाम का अभ्यास
करना योग्य है। प्राणविद्या, मनोनिग्रह तथा ज्ञान के आवरक दोषों को क्षीण करती
है। प्राणायाम के सम्यक् सिद्ध हो जाने से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं तथा
प्रत्याहार की सिद्धि सम्भव हो जाती है।

प्रत्याहार की साधना कठिन साध्य होती है। एक वेद मन्त्र में साधक अपनी

इन्द्रियों की चंचलता से व्याकुल हुआ कहता कि 'मेरे ये कान न सुनने योग्य शब्दों को सुनने के लिए दूर तक चले जाते हैं, इसी प्रकार मेरे नेत्र तथा हृदयस्थ मन संकल्प विकल्प के वितान पर आरूढ़ होकर दूर तक चला जाता है।' मन्त्रगत भावों से स्पष्ट हो जाता है कि मन की चंचलता मानव को साधना के मार्ग से हटाने में पूर्व से ही तत्पर है। परन्तु वैदिक काल से ही उपासक, जीवन को सफल बनानेवाले योग विद्या के माध्यम से सदैव प्रयास करते रहे हैं अतः आज भी जितेन्द्रिय होकर प्रत्याहार की साधना को सफल करने का पूर्ण यत्न करना चाहिए।

धारणा में स्थान विषयक मतभेद प्रायः उपासकों में पाया जाता है। वेद में आन्तरिक स्थान हृदय को ही धारण के लिए उपयुक्त बताया है।

योगाभ्यासियों में ध्यान के प्रकारों में मतैक्य नहीं है, कुछ स्थानों का संकेत वेद मन्त्रों में भी उपलब्ध होता है। ध्यान के प्रमुख स्थान सुषुम्ना नाड़ी एवं ज्योतिर्मयध्यान तथा अन्तर्नादमयध्यान आदि का वर्णन मिलता है।

'यदग्नेस्यामहं' मन्त्र समाधि के स्वरूप को स्पष्ट व्यक्त करता है। ध्याता की ध्येयाकार वृत्ति का स्वरूप ही समाधि है। अष्टांग योग का समाधि परिणाम है। समाधि प्राप्ति के जो साधन वेद में बताये गये हैं वे अनुभवसिद्ध हैं, संक्षेप में कहे गये ये वैदिक साधन इतर साहित्य में वर्णित साधनों से उत्कृष्ट तथा परिपूर्ण हैं। मन्त्र में कहा है—'मस्तिष्क तथा हृदय को समविचारवाला अर्थात् एक करके संशय को त्यागकर श्रद्धापूर्वक मन की चंचलता का निराकरण करता हुआ, बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि करके ब्रह्मरन्ध्र में प्राण एवं प्राणवृत्तियों को प्रेरित करता हुआ समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है।' वैदिक योग में शून्य समाधि को महत्व नहीं दिया गया, वहाँ जो प्रज्ञा विवेक जगानेवाली मधुमति प्रज्ञाज्योति, तथा धर्ममेघ समाधियों के संकेत मिलते हैं।

वैदिक संहिताओं में, तन्त्रों के माध्यम से डाकिनी-साकिनी, भैरव आदि इष्ट देवताओं को सिद्ध करनेवाली क्रियाओं का कोई संकेत नहीं; वरन् धारणा-ध्यान-समाधि के त्रिकसंयम से स्वाभाविक उत्पन्न विभूतियों का वर्णन मिलता है जिनका उल्लेख सप्तमाध्याय में किया गया है।

उपासक योगाभ्यास को भलीभाँति सिद्ध करके लोकोपकार में उसका प्रयोग करता है तो शनैः-शनैः निष्काम भावना के परिणामस्वरूप जीवन मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। अष्टमाध्याय में मोक्ष के साधनोपाय के साथ-साथ वेदमन्त्रों के द्वारा 36 हजार बार सृष्टि-प्रलय का काल मोक्ष की अवधि का निश्चय किया है। इतने काल के बाद जीवात्मा पुनः श्रेष्ठ माता-पिता को प्राप्त करता हुआ जन्म धारण करता है। इस प्रकार इस विवेचन में मोक्ष से पुनरावृत्ति को वैदिक मत स्वीकार करके विपक्ष का युक्तियुक्त खण्डन किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधन भी वेदों में हो सकते हैं परन्तु हमने इस परिशीलन के माध्यम से पंचकोश

विवेक तथा अष्टांगयोग को ही समझा है। वास्तव में आवागमन के चक्कर से मुक्त होने के दो ही पथ वेद से लेकर पातंजलयोग तक साहित्य में मुख्य हैं; 1. कार्यरूप तीनों शरीरों को उत्पत्ति के विलोम क्रम से उनके कारण 'त्रिगुणों' में विलीन करके पुन: प्रसव के अयोग्य बना दिया जाय। साथ ही तीनों शरीरों में अधिष्ठित पंचकोष का पूर्ण शोधन तथा विवेक प्राप्त कर लिया जाय। 2. अष्टांगयोग का सुदीर्घ पथ; इसका अनुष्ठान करके धारणा-ध्यान-समाधि-संयमों की साधना द्वारा 'स्वरूप-प्रतिष्ठा' कर ली ज़ाय। विशेष रूप से अहंभाव को चूर्ण करते हुए, गला देना कठिन कर्म है, और ईश्वरार्पण कर देना, समर्पण से अहंकार का विकार नष्ट करके इसे सुधार देना सरल मार्ग है। सरल मार्ग का उद्‌घाटन इस प्रबन्ध का उद्देश्य है जिसको आद्योपान्त पढ़कर जान सकते हैं।

इस परिशीलन में जो कुछ भी चिन्तन-मनन वैदिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है उसमें कुछ तो शोधार्थी के निजी अनुभव से तथा विद्वान् अभ्यासियों से भी पूर्णतया उपयुक्त सिद्ध हुआ है। समाधि की उच्चभूमियों तथा विभिन्न विभूतियों को सिद्ध करना एवं उनकी वस्तुस्थिति को सिद्ध करना शेष रह जाता है जिसका अनुशीलन आगामी योगाभिलाषी शोधार्थियों से अपेक्षित है।

कई-कई मानव जीवनकाल पर्यन्त वेदों के परिशीलन में समय लगानेवाले ऋषिपुंगव थककर कह गये, कि 'अनन्ता वे वेदा:' अर्थात् वेद अनन्त हैं, वेद का ज्ञान अनन्त है। इसी प्रकार तुच्छ से इस परिशीलन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि 'अनन्तो वै योग:' वेदगत यह योगविद्या अनन्त है। इतना लिखकर दो पद्यों के साथ विराम लेता हूँ।

निदानं कोशानामुदितमथशुद्धिश्च कथिता,
सहाङ्गैरष्टाभिर्विहितमिह योगद्वयमपि।
विभूतिर्योगस्य श्रुतिविहित मुक्तेश्चकरणम्,
यतेरन् भोगार्त्ता: परमपदमासुं निशिदिवा ॥

बुधजनपदकज्जेष्वर्पितोऽयं 'प्रबन्ध:',
सुरतरु सुमनोभिर्गुम्फिता मालिकेव।
तथापि तव ऋचानामीश ! पारं न यातम्,
विरमति मम सिद्धा लेखनी योगभूत्यै ॥

-48
48

वेदों में आयी हुई संख्याओं पर अनुसन्धान

शोधकर्ता—विश्वपाल वेदालंकार
निर्देशक—पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड
वर्ष—1980

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का आधार वेदों की संख्याएँ हैं। हमने यहाँ संख्याओं के वाचक शब्दों पर अति स्पष्ट होने से ध्यान नहीं दिया है। जैसे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते"। यहाँ समानं वृक्षं में समान एक का वाचक है, परन्तु यह अति स्पष्ट है। इसलिए इस निबन्ध को छुआ ही नहीं गया। वेद में जो सामान्य सरलार्थक संख्याएँ हैं जैसे द्विपाद्, चतुष्पाद्, शतम्, सहस्रम्, शतकुतो, जीवेम शरदः शतम् आदि पर न किसी का विवाद है और यदि विवाद कहीं है भी तो उसे दिखाते हुए हम सामान्य रूप से ही चले हैं। इसके अतिरिक्त भी वेद में अन्य बहुत-सी संख्याएँ वेद में ही स्पष्ट हैं तथा किसी भी विद्वान् के लिए चिन्तन और विवाद का विषय नहीं बनीं। उनका सामान्य स्पष्टीकरण करते हुए चले हैं। शेष जो संख्याएँ ऊहा के योग छोटी तथा बड़ी हैं, वो ही शोध का मुख्य विषय है और उन संख्याओं पर कई शोध लिखे जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न नामों के आधार पर हमने जहाँ तक हो सका है पूरा प्रयत्न किया है बल्कि संग्रह में कई जगह तो ऐसे चिन्तन हाथ लगे हैं जो बहुत ही आनन्ददायक है। जैसे—"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः" इस पर पं० प्रवर श्री विद्यानिधि जी ने पाणिनीशाष्टक के "स्वौजस-मौटछस्" इस सूत्र को लगाया है। 21 प्रत्यय सारे संसार के रूपों (देवः, देवौ, देवाः) आदि को धारण करते हैं।

इस शोधग्रन्थ में तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय गूढ़ या रहस्यात्मक अध्याय है जो वास्तव में शोध का विषय है। वेद की संख्याएँ रहस्यात्मक हैं। उनके अर्थ चिन्तन में एक नयी पद्धति का जन्म होता है। गूढ़ अर्थों को धारण करके ये संख्याएँ वेद के महत्त्व को प्रकट करती हैं। यथा—षष्ठि सहस्रा भवंति नव द्विदंश, सहस्रं

... सहस्राण्यग्नि त्रिशच्च देवाः, दशमि सहस्रै त्रिवरुणः, त्रिसप्त सप्ततीनाम्, शतं दश त्रीणि शतानि सहस्रदश आदि।

द्वितीय अध्याय गण अध्याय है। इसमें 1 से 10 तक के भिन्न-भिन्न गणों के अतिरिक्त 21, 33, 100, 1000 आदि के गण हैं, जिनको कठिन नहीं कहा जा सकता और इसलिए वे सामान्य अध्याय का ही एक भाग है, जो अधिक मात्रा में एक जैसी होने के कारण अपना-अपना स्थान दूसरी जगह बना बैठी है।

तृतीय अध्याय उन सामान्य संख्याओं का है जो सरल होने के साथ किसी एक गण में हम सम्मिलित नहीं कर सकते थे या जिनका प्रयोग वेद में बहुत ही कम जगह हुआ है। अर्थात् जिन्हें हम न तो गण का रूप दे सकते हैं और न गूढ़ ही कह सकते हैं। वे हैं एकादश से लेकर कहीं-कहीं पर आनेवाली गूढ़ संख्याएँ जो अति स्पष्ट होने के कारण अपना स्थान सामान्य अध्याय में ही पा सकी हैं।

सारांश

परमात्मा के नियम अटल हैं। जैसे परमात्मा अजर-अमर है वैसे ही उसके सारे क्रिया-कलाप भी अपने पथ पर सुदृढ़ हैं। सारा चराचर जंगम स्थावर एक पल भी बिना विश्राम किये घूमता रहता है। एक-एक कण गतिमान् है। ब्रह्माण्ड में बड़े-बड़े नक्षत्र भ्रमणशील हैं जिनकी गणना मनुष्य की बुद्धि से बाहर की वस्तु है। इतना होते हुए भी उसके किसी नियम में न कभी परिवर्तन दिखायी देता है और नही कोई ग्रह-उपग्रह आपस में टकराता दीखता है। जबकि अपनी तेज गति से सृष्टि के आदि से निरन्तर गतिमान् है। इन सबका क्या कारण हो सकता है? यही उस प्रभु की अलौकिक महिमा है जिसे वह बहुत ही आसानी से चला रहा है। वेद में बतलाया है कि इस सृष्टि का कार्य-कलाप तो उसका चतुर्थांश ही है, बाकी तीन भाग तो उसके आनन्द स्वरूप में हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह आसानी से सृष्टि के कार्य को करता हुआ उसे सँभाले हुए रखता है, बल्कि एक-एक वस्तु को गणित के अनुसार समय और गति में इस तरह विभाजित कर दिया है कि उनमें न तो कोई चीज नियम से विरुद्ध चल सकती है और नही उसमें किसी दुर्घटना का अवसर आ सकता है।

इस गणित को परमात्मा ने न केवल अपने ही व्यवहार में प्रयोग किया बल्कि अपनी सृष्टि के श्रेष्ठ प्राणी मानव को इसकी शिक्षा के लिए वेद में इस विद्या को अंकित किया है। सृष्टि में घटित प्रत्येक बात को छोटी से बड़ी तक तो संख्याओं द्वारा प्रतिपादित किया है। इन छोटी-बड़ी बातों के लिए संख्याएँ भी छोटी-बड़ी हैं, जिनमें से कुछ अत्यन्त सरल होने के कारण बुद्धिगम्य हैं और कुछ बहुत बड़ी होने के कारण रहस्यात्मक और दुरूह बन गयी हैं।

इन संख्याओं को सामान्य रूप से दो विभागों में बाँटा जा सकता है—सरल

और कठिन के रूप में। मैंने इसी बात को लेकर शोधप्रबन्ध में कठिन संख्याओं के लिए एक रहस्यात्मक अध्याय बनाया है और दूसरी सरल संख्याओं के लिए दो अध्याय इसलिए बनाये हैं कि उनका एक अध्याय किसी भी रूप में नहीं बन सकता था। जैसे सहस्र संख्या बहुत्व वाची है और बहुत से मन्त्रों में इसका प्रयोग हुआ है, जो सब जगह इसी भावार्थ को द्योतित करती है। इसी तरह शतम् चतस्रः प्रदिशः आदि अनेक संख्याएँ अनेक स्थानों पर एक ही अर्थ को बतलाती हैं। इसलिए उनको पृथक्-पृथक् न कहकर एक-एक स्थान पर कहना ही उचित था। इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्रों में सरल होते हुए भी एक साथ ही कई संख्याओं का प्रयोग हुआ है जो एक जगह रहकर ही अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर रह सकती हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् करने पर अर्थात् उस-उस संख्या के गण के साथ जोड़ने पर उनका स्पष्टीकरण अच्छी तरह नहीं हो सकता था। इसलिए गत अध्याय से पृथक्-सरल संख्याओं के लिए सामान्य अध्याय का निर्माण करना पड़ा।

यद्यपि तीन अध्यायों के अतिरिक्त गण अध्याय के दो या तीन अध्याय और सामान्य संख्याओं में छोटी-बड़ी संख्याओं का पृथक्-पृथक् विभाजन करके दो-तीन अध्याय बनाये जा सकते थे, परन्तु उससे विषय सरलता की अपेक्षा जटिलता को धारण कर लेता।

शोधप्रबन्ध का मुख्य ध्येय रहस्यात्मक संख्याओं का स्पष्टीकरण ही है। जिनमें रहस्यात्मक संख्याओं के अध्याय के अतिरिक्त गण अध्याय में 30, 34, 99 आदि संख्याएँ भी हैं। इन संख्याओं पर विद्वानों के पूरे-पूरे भावों को दिखाते हुए हमने उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिसे अन्तिम और अन्तरंग प्रयास नहीं कहा जा सकता। स्वामी दयानन्द जी के गम्भीर भावों को विद्वानों के सूक्ष्म चिन्तन के सहयोग से हमने सुलझाने का यत्न किया है। शेष संख्याएँ स्पष्ट होते हुए भी उन पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु शोधप्रबन्ध के विस्तार के भय से हमने उन पर इतना ही बल दिया है कि वे स्पष्ट रूप से समझ में आ सकें और अधिक विस्तृत रूप भी धारण न कर सकें।

इस शोध में वेदों में आयी हुई विभिन्न विद्वानों के आधार पर विभिन्न विषय के ग्रन्थों का आश्रय लेकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साथ ही विद्वानों के मौलिक चिन्तन को यथाशक्ति उपलब्ध करके यथास्थान उद्धृत किया है। पत्र-पत्रिकाओं में वर्णित विभिन्न विद्वानों के मत तथा साक्षात्कारादि गत विचारों का भी समावेश यथास्थान किया गया है।

दूसरे भ्राता के प्रति क्या कर्त्तव्य है? इसका बोध भी हमें सहजतया रामायण से प्राप्त होता है जो धर्मशास्त्र का प्रतिनिधित्व करता है। मित्र धर्म का मानव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मित्र स्वधर्म का पालन करके अपने मित्र को जीवन की कठिनतम विसंगतियों से उभारकर कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित कर देता है। जैसे रामायण में हमें श्रीराम और वानरराज सुग्रीव की मैत्री से शिक्षा प्राप्त होती है। पुत्र परिवार का प्रमुखतम अंग है। पुत्र की चेष्टा परिवार के उन्नत शिखर पर दीप्त दीपक की भाँति प्रकाशमान होती है। अतः यदि पुत्र अपने धर्म का पालन करता है तो वह ऐतिहासिक परम्परा में भी अपना अक्षुण्ण स्थान बना लेता है। श्रीराम ने रामायण में जिन कर्त्तव्यों का पालन किया वे शिष्ट एवं प्रशंसनीय पुत्र के ही धर्म हो सकते हैं। अपने अग्रज राम की भाँति ही लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न ने भी अपने पुत्रधर्म का पालन पूर्ण मनोयोग से किया।

ऋग्वेद में प्रतिपादित विभिन्न विधाओं का संकलन एवं विवेचनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—सुरेन्द्र कुमार
निर्देशक—रामप्रसाद वेदालंकार
वर्ष—1987

वेदों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों को अनेकानिक धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार वेद यज्ञों के प्रतिपादन के लिए हैं, कुछ मनीषियों के मत में वेद उन गीतों का संकलन है जिनकी रचना सिन्धु तट के निवासी आर्य लोगों ने की तथा जिनमें दैवी शक्तियों से अपने और अपने पशु समूहों पर ऐश्वर्य-वृष्टि की कामना की गयी है। विद्वानों का एक समूह ऐसा भी है जो वेदों को सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक के रूप में स्वीकार करता है।

निर्दिष्ट विविध धारणाओं के होते हुए भी वेद के महत्त्व को सभी विद्वानों ने समवेत स्वर में परिमान्य किया है। वस्तुत: वेद यदि ईश्वर-प्रदत्त हैं जैसा कि वेद के अन्त:साक्ष्यों एवं परिपुष्ट प्रमाणों से भी प्रमाणित है, तो उनमें सभी सत्यविद्याओं को संसूचना होनी चाहिए, भले ही वह सूत्र रूप में क्यों न हो; क्योंकि मनुष्य की उन्नति उसके नैमित्तिक ज्ञान पर आधारित है।

चारों वेदों में ऋग्वेद की पौरस्त्य तथा पाश्चात्य उभयविध विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। प्रस्तुत शोध कार्य ऋग्वेद में विभिन्न विद्याओं के सूत्रों को खोजने का प्रयास है। इस कार्य को प्रेरणा का श्रेय उन सभी बुधजनों को है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेद विद्याविषयक चिन्तन को गति प्रदान की है।

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है इस घोषणा के उद्घोषक स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य का इस शोध कार्य के आधार रूप में चयन किया गया है, किन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद पर स्वामी दयानन्द का भाष्य उपलब्ध नहीं है अत: अन्य भाष्यकारों की भी यथाशक्ति सहायता ली गयी है जिनमें सायण सातवलेकर, तथा जयदेव प्रमुख हैं तथा इसे दयानन्द के वेद विद्या विषयक आशय की पुष्टि ही समझा गया

है। यत्र-तत्र शोधार्थी ने धातु, प्रत्यय, व्याकरणात्मक प्रक्रिया को आधार बनाकर मन्त्रार्थ में शोधपरक स्वतन्त्र उहा का प्रयोग भी किया गया है। वैदिक भाव अविकृत रहे इसका पूर्ण ध्यान रखा है।

यह शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। पूर्व के दो अध्याय परिचयात्मक हैं। प्रथम अध्याय में वेद के सामान्य परिचय के साथ-साथ याज्ञिक ऐतिहासिक, नैरुक्तादि प्रमुख वेदभाष्य सम्प्रदायों का स्वरूप तथा सायण, दयानन्दादि वेद भाष्य-कारों को वेद विषयक धारणाओं का समावेश है।

द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद संहिता तथा संहितेतर साहित्य का परिचय मात्र है।

तृतीय अध्याय में आध्यात्मिक विद्याओं के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या, दर्शनशास्त्र तथा कल्प का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

ब्रह्मविद्या

ईश्वर तत्त्व के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत है कि ऋग्वेद में बहुदेवता-वाद है। कुछ भारतीय विद्वान् भी इसी मत के पोषक हैं। उनके अनुसार वैदिक देवतावाद, बहुदेवतावाद की ओर उन्मुख था, कालान्तर में एक देववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप में उसकी चरम परिणति होती है।

यह परम सत्य है कि ऋग्वेद में देवतावाद तो है किन्तु देवता का अर्थ ईश्वर लेना तथा कालान्तर में बहुदेवतावाद से एकेश्वरवाद की ओर प्रवृत्ति का अभि-कथन करना भारी भूल है। इस प्रकरण में ईश्वरविषयक उपर्युक्त धारणाओं के पक्ष-प्रतिपक्ष का उद्‌भावन करते हुए ऋग्वेद के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर-प्राप्ति के साधन तथा मोक्ष और पुनर्जन्म का विवेचन किया गया है।

दर्शनशास्त्र

जिज्ञासाओं की प्रवृत्तियों में दर्शनशास्त्र का उदय देखा जाता है। प्रमुखतः दर्शन-शास्त्र का विवेच्य विषय वे अनादि सत्ताएँ हैं जो इस सृष्टि की कारण हैं। इस प्रकरण के अन्तर्गत ऋग्वेद में अनादि सत्ता विषयक जिज्ञासाओं तथा उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। साथ ही उन दार्शनिक प्रत्ययों को भी निर्दिष्ट किया है जिनका कि सांख्य योगादि दर्शनों में विस्तार हुआ है।

कल्प

सामान्य रूप से लोगों की यही धारणा है कि वेदों का प्रतिपाद्य मुख्यतः यज्ञ-यागादि ही है, किन्तु उपनिषद् महाभारत तथा पुराणादि में प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस सम्भावना को बल मिलता है कि लौकिक द्रव्य मय यज्ञ यागादियों की ऋषि-मुनियों

द्वारा कल्पना की गयी है। प्रतीत होता है कि इस कल्पना के कारण ही यज्ञों का एक नाम कल्प भी है।

इन समस्त धारणाओं के स्वरूप का विवेचन करते हुए इस प्रकरण में ऋग्वेद प्रतिपादित यज्ञ का स्वरूप वर्णित है।

चतुर्थ अध्याय में भौतिक क्रियाओं के अन्तर्गत सृष्टि विज्ञानादि के स्वरूप का विवेचन किया है।

सृष्टि विज्ञान

यह विश्व कैसे बना ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए प्राचीनकाल से ही प्रयास होता रहा है, फलस्वरूप सृष्टि-निर्माण के विषय में अनेक धारणाओं का जन्म हुआ है। इस प्रकरण में सृष्टि विज्ञान से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद प्रतिपादित सृष्टि निर्माण प्रक्रिया का विवेचन हुआ है। साथ ही आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उक्त विवेचन का तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

खगोल विज्ञान

सौर मण्डल जिससे कि हम सम्बद्ध हैं, वह इस विशाल सृष्टि का एक छोटा-सा भाग है। यह छोटा-सा भाग भी इतना विशाल है कि अरबों वर्षों के श्रमसाध्य अन्वेषणों के बाद भी इस विषय में प्राप्त ज्ञान को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। खगोल विज्ञान नामक इस प्रकरण में सूर्य तथा ग्रह आदि की उत्पत्ति तथा भ्रमण आकर्षणादि के विषय में ऋग्वेद की धारणाओं का विवेचन करते हुए आधुनिक विज्ञान के एतद्-विषयक सिद्धान्तों के साथ तुलना की गयी है।

भूगर्भ विज्ञान

भूगर्भ विज्ञान के अन्तर्गत पृथिवी निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। पृथिवी निर्माण के सम्बन्ध में ऋग्वेद की क्या मान्यताएँ हैं, उनका विवेचन इस प्रकरण में हुआ है। साथ ही आधुनिक विज्ञान की भूगर्भ सम्बन्धी मान्यताओं से साम्य भी दर्शाया गया है।

जल विज्ञान

आधुनिक विज्ञान ने परीक्षणों के बाद यह सिद्ध कर दिया है कि जल, स्वतन्त्र रूप में एक तत्त्व न होकर हाइड्रोजन (Hydrogen) और आक्सीजन (Oxygen) नामक वायुओं का यौगिक है। ऋग्वेद में भी जलों को मित्र तथा वरुण नामक दो

वायुओं का यौगिक स्वीकार किया है, जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

विमान विज्ञान

संस्कृत भाषा में 'वि' का अर्थ पक्षी तथा 'मान' का अर्थ आकार अथवा परिमाप होता है। अतः विमान का अर्थ हुआ पक्षियों के आकार जैसा। इस प्रकरण के अन्तर्गत ऋग्वेद में विमान निर्माण के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है।

आयुर्विज्ञान

चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदीय संहिताओं के अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है, किन्तु ऋग्वेद में भी आयुर्वैज्ञानिक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है, जिनका कि इस प्रकरण में विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में सामाजिक विद्याओं के अन्तर्गत राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का स्वरूप विविक्त है—

राजनीतिशास्त्र

प्रजा की प्रसन्नता-अप्रसन्नता, उत्थान-पतन सबकुछ राजा और उसकी नीति पर निर्भर है। राजा प्रबल पराक्रमी, बुद्धिमान्, चरित्रवान् तथा ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व का धनी होना चाहिए जो कि उसे सम्पूर्ण प्रजाजनों से उत्कृष्ट सिद्ध करता हो। राज्य में व्यवस्था की स्थापना हेतु राज-सभा, विद्या-सभा और धर्म-सभा नियत की जायें। प्रजा का पालन करते हुए राज्य में न्याय और दण्ड व्यवस्था को समुचित रूप दिया जाय। रक्षा और प्रतिरक्षा के उद्देश्य से सेना के गठन के साथ-साथ उसे शस्त्रास्त्रों से सज्जित किया जाय।

ऋग्वेद के अनुसार इन सभी राजनैतिक विषयों का विवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

समाजशास्त्र

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्तियों से परिवार तथा परिवारों से समाज का निर्माण होता है। रचना संघटनादि की दृष्टि से सामाजिक कलेवर की दो व्यवस्थाएँ धारण करती हैं, वे हैं—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था। यहाँ इन दोनों व्यवस्थाओं के विवेचन के साथ-साथ शिक्षा तथा अर्थ-व्यवस्था पर भी विचार किया गया है।

नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र मानव जीवन से सम्बद्ध आदर्शों का विज्ञान है। वह मनुष्य को कुछ शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, पाप और पुण्य का भेद बतलाता है। धर्म-अधर्म, सदाचार-कदाचार आदि का स्पष्टीकरण नीतिशास्त्र का ही विवेच्य विषय है। इस प्रकरण में धर्म, ऋत और सत्य के विवेचन के साथ-साथ व्यावहारिक नैतिक विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में कलात्मक विद्याओं के अन्तर्गत भाषा तत्त्व, काव्य तत्त्व तथा पुराण तत्त्व का विवेचन किया गया है।

भाषा तत्त्व

भाषा मनुष्य की विचाराभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में भाषाशास्त्रियों द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों की कल्पना हुई है। ऋग्वेद में भाषा उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, जिसका विवेचन इस प्रकरण में किया गया है। साथ ही भाषा के घटक तत्त्वों के रूप में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात पर भी विचार किया गया है।

काव्य तत्त्व

काव्य मानवीय भावनाओं और संवेदनाओं का मूर्त रूप है। क्रौंच पक्षी की विरह वेदना को देखकर महाकवि वाल्मीकि की संवेदना—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः' —के रूप में मूर्त होकर लौकिक काव्य का आदि स्रोत बन गयी। ऋग्वेद सृष्टि का आदि काव्य है, जिसमें मनुष्य की संवेदनाएँ ही नहीं अपितु सबकुछ निहित है। इस प्रकरण के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद में शैली, शब्द-शक्ति, रस तथा अलंकारों की विवेचना की गयी है।

पुराण तत्त्व

किसी गूढ़ विषय को आख्यान के माध्यम से सरलतापूर्वक स्पष्ट करना पुराण साहित्य का अपना वैशिष्ट्य है, अतएव इतिहास और पुराण को वेदोपबृहक माना जाता है। इस प्रकरण में बृहद्देवता आदि के कतिपय पौराणिक आख्यानों के मूल तथा उनमें अन्तर्भुक्त रहस्यों को स्पष्ट किया है। स्वामी दयानन्द ने भागवतादि को पुराण के रूप में स्वीकार नहीं किया है, पुनरपि इस प्रकरण में भगवतादि पुराणों के उन स्थलों की समालोचना भी की गयी है जिनमें कि ऋग्वेदोपबृहण हुआ है।

सप्तम अध्याय के अन्तर्गत ऋग्वेद में विद्याओं से सम्बद्ध किये गये शोध कार्य का संकलन है। इस संकलन का आधार विश्वविद्यालय बोर्ड द्वारा प्रकाशित शोध-ग्रन्थ सूचियाँ रही हैं। अन्त में उपसंहार करते हुए शोध कार्य की मौलिकता को दर्शाया है।

हैं ? आज देश को मार्गदर्शन की आवश्यकता है । वैदिक ज्योति के आप प्रकाश पुंज हैं । आशा है, गुरुकुल विश्वविद्यालय से ऐसी ज्योति प्रस्फुटित होगी जो न केवल देश का अपितु विश्व का मार्ग प्रशस्त करेगी । इस आशा और आशीर्वाद के साथ मैं इस राष्ट्रीय महत्व की वैदिक शिक्षा कार्यशाला का उद्घाटन करती हूं ।

धन्यवाद !

डा० श्रीमती माधुरी शाह
अध्यक्षा विश्वविद्यालय अनुदान
आयोग, नई दिल्ली

—०—

ओ३म् सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन विराधिषि

वेदों में विज्ञान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के समस्त अधिकृत-जन तथा विद्वत्समुदाय एवं समवेत समस्त श्रोतृजनों का तथा दूर-दूर से पधारे हुए अभ्यागत सम्माननीय प्रतिनिधियों का अभिनन्दन करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है। वैदिक कार्यशाला में प्रस्तुत "वेदों में विज्ञान" विषय पर मुझे अपने विचारों का अवसर प्रकट करने के लिए जो पुण्यमय समय प्रदान किया गया है, तदर्थ निदेशक महोदय के सहित समस्त आयोजन करने वालों का विशेष धन्यवाद है।

वस्तुत: वेद स्वयं ही विज्ञान है। विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे इन धातुओं से निष्पन्न वेद शब्द ऋग्-यजु-साम-अथर्व के ज्ञान-कर्म-उपासना और विज्ञान की ओर संकेत दे रहा है। ये चारों विषय ऐसे सार्वभौम हैं, कि प्राणीमात्र इसकी सीमा से बाहर नहीं निकल सकते। मैं बोल रहा हूं ; इससे पहले कोई ज्ञान मेरे मस्तिष्क में है, बोलकर आप तक पहुंचाने का प्रयास कर्म की ओर और सुनने के पश्चात् जो उपलब्धि हो रही है, वह उपासना की ओर तथा उस उपलब्धि के अनन्तर जो एक विशेष प्रकार की अनुभूति हो रही है, वह स्वाभाविक विज्ञान का प्रतिपादन कर रही है। संसार का कोई भी प्राणी इस विज्ञान से बाह्यभूत नहीं है।

सर्वप्रथम तो वेदों की लिपि ही वैज्ञानिक है। यजुर्वेद के ३१ से ३४ मन्त्रों तक "अग्निरेकाक्षरेण, अश्विनौ द्व्यक्षरेण, विष्णुस्त्र्यक्षरेण, सोमश्चतुरक्षरेण, पूषा पञ्चाक्षरेण, सविता षडक्षरेण, मरुत: सप्ताक्षरेण, बृहस्पतिरष्टाक्षरेण, मित्रो नवाक्षरेण, वरुणो दशाक्षरेण, इन्द्र एकादशाक्षरेण, विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण, वसवस्त्रयोदशाक्षरेण, रुद्राश्चतुर्दशोक्षरेण, आदित्या: पञ्चदशाक्षरेण षोडशाक्षरेण, प्रजापति: सप्तदशाक्षरेण" अदिति:

इत्यादि मन्त्रों के माध्यम से १७ अक्षरों से लिपि का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इनमें अ, इ, उ, ऋ, लृ, ये ५ स्वर तथा ५ वर्गों के अल्पप्राणगत १० अक्षर, अनुस्वार और विसर्ग बस इनसे ही समस्त लिपि का स्वरूप निरूपित हुआ है। पांच वर्गों के पंचमाक्षर अनुस्वार से तथा ह, स, श, और ष विसर्ग से "विसर्जनीयस्य सः" इस सूत्र के द्वारा तवर्गों में सकार बनकर, चवर्गों में शकार बनकर और टवर्गों में मूर्धन्य षकार होकर प्रयुक्त हुए हैं। इ और अ से यकार, उ और अ से वकार, अकार की मात्रा जिह्वा से निष्पन्न करके समस्त वैदिक लिपि का स्वरूप निखरा है। इतना ही नहीं अपितु समस्त शब्दों के उच्चारण के भिन्न-भिन्न स्थान अपने-अपने स्थानों की आकृतियों में व्यवहृत हुए हैं। अकार कण्ठस्थानीय है, वह कण्ठगत वर्तुलाकार काग वाले स्थान से तथा लम्बी जिह्वा का मात्रा के रूप में सम्बन्ध बनाकर अकार की आकृति का स्वरूप धारण कर रहा है। विश्व वी किसी भी भाषाकी कोई भी लिपी इतनी वैज्ञानिक नहीं है, जितनी वैदिक भाषा से सम्बद्ध समस्त संस्कृत वाङ्मय की लिपी की वैज्ञानिकता है। किसी भी शब्द के उच्चारण में बालक तक को भी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। चारों वेदों के मन्त्रों का उच्चारण इतना सुगम है कि उसे थोड़े प्रयास से ही पूर्णतया हृदयंगम कर लिया जाता है किन्तु अन्य भाषाओं की लिपीयों के उच्चारण का स्वरुप अनियमित और अवैज्ञानिक होने के कारण बड़ा ही जटिल है। वैदिक भाषा भी तथा तद्गतमन्त्रों के उच्चारण की ध्वनि भी अपने में पूर्ण वैज्ञानिकता लिये हुए है।

रूस में किये गए परीक्षणों से तो समस्त शब्दों की संगीतमयी मधुर ध्वनि जहाँ पशु-पक्षियों और मानवजाति के समस्त रोगों की विनाशक है, वहां वह वनस्पतियों के उद्भव में भी बड़ी ही वैज्ञानिक सिद्ध हुई है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व स्नातक श्री पूर्णचन्द्र वेदालंकार का तो यहां तक कहना है कि वेदमन्त्रों की ध्वनि से समस्त संक्रामक कीटाणुओं का विनाश हो जाता है, क्योंकि उन्हीं के सामने लाहौर में एक बार एक जर्मन वैज्ञानिक ने शब्दों के एक विशिष्ट परीक्षणात्मक यन्त्र से यह प्रत्यक्ष कर दिखाया था।

वेदमन्त्रों के समस्त प्रतिपाद्य विषय भी वैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। सर्वप्रथम अध्यात्म-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र का निरीक्षण कीजिए, सबमें मानव-जीवन नहीं-नहीं, प्रानीमात्र के जीवन के अभ्युत्थान का निर्णीत विज्ञान सर्वत्र दृष्टिगोचर है। इससे भारतीय विद्वान् ही नहीं, अपितु पाश्चात्य विद्वान् भी सहमत हैं।

अध्यातम-विज्ञान में ईश्वर, आत्मा, प्रकृति, पुनर्जन्म, कर्मभोग तथा जन्म-जन्मान्तर के संस्कार और उनके दग्ध होने पर योग-सिद्धियां तथा मुक्ति आदि के विज्ञान को प्राप्त करने के लिए आज यूरोप के विभिन्न स्थानों से बड़े-२ विद्वान यहां आ रहे हैं। इसी अध्यातम-विज्ञान में ईश्वर की सत्ता, आत्म-तत्व-दर्शन तथा पुनर्जन्म का प्रतिपादन वेद-विज्ञान का ही अकाट्य अंग है। वर्णाश्रमों की व्यवस्था तो भारतीय विज्ञान की एक बहुत बड़ी देन है। "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" का महान् आदर्श केवल वेदों में ही मिलेगा। "मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेता" इत्यादि मन्त्र के द्वारा दूसरों की तृप्ति करके तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ के माध्यम से प्राणीमात्र के साथ आत्मीयता का व्यवहार वेदों में ही मिलेगा। समस्त विश्व को आत्मवत् समझकर समस्त प्राणियों के कल्याण की प्रवृत्ति का स्रोत वैदिक-विज्ञान की गंगा से ही उद्भूत हुआ है। समस्त आदर्श, समस्त गौरव, समस्त सभ्यताएं और समस्त संस्कृतियां यहीं से पल्लवित, पुष्पित तथा फलित हुई हैं।

आइए—थोड़ा भौतिक-विज्ञान की ओर भी दृष्टिपात करें। इस भौतिक-विज्ञान में—खगोल-विज्ञान, भूगोल-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीवाणु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान और वास्तु-विज्ञान आदि और भी अनेकानेक विज्ञान गर्भित हैं।

खगोल-विज्ञान को लेकर छान्दोग्योपनिषद् में "असौ वा आदित्यः पिङ्गलः, एष शुक्लः, एष नीलः, एष पीतः, एष लोहितः" कहकर सूर्य की मुख्य तीन रंग की तीन रश्मियां ऐसी हैं, जिन्हें रक्त, पीत, नील कहा गया है। इन्हीं में लाल और नील से व्यञ्जनी तथा नील और पीत से हरित एवं रक्त और पीत से नारंगी बनता है। इन समस्त रंगों को उत्पन्न करने वाली सूर्यरश्मियां जो सूर्य के द्वारा अपनी ही कीली पर वेग से भ्रमण किया जाता है, श्वेत वर्ण में परिणत होकर धूप बन जाती है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी भ्रमण करती है, जैसा कि-यजुर्वेद के तृतीय अध्याय में "आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयत्स्वः।" इसी प्रकार "आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। हिरण्मयेन सविता रथेन, देवो याति भुवनानि पश्यन्" इसी मंत्र के द्वारा सूर्य और पृथ्वी का आकर्षण स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, इस बात को रूपकालंकार के माध्यम से "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावति दिवि" अथर्ववेद के १८वें मण्डल के चौथे सूक्त के माध्यम से बताया गया है कि दो पंखों वाला चन्द्रमा अन्तरिक्ष

में तेजी से पृथ्वी के चारों ओर दौड़ रहा है। यहां पर चन्द्रमा के दो पंख शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष नाम से रूपित है। सूर्य और चन्द्रमा का ग्रहण शतपथ ब्राह्मण में "स्वर्भानुर्वा असुरः सूर्य तमसा विव्याधा। स तमसा विद्धो न व्यरोचत।" इस स्थल पर चन्द्रमा की छाया जो सूर्य को ग्रसती है, उसे "राहु" कहा गया है और पृथ्वी की छाया से जो चन्द्र-ग्रहण होता है, उसे "केतु" की संज्ञा दी गई है।

आज के वैज्ञानिक आकाशमण्डल से जो तारे टूटते हैं, उन्हें उल्कापात की संज्ञा देते हैं। देखिए अथर्ववेद में सृष्टि के आदि से ही यह बात "शन्नो भूमि-र्व्येप्यमाना शमुल्काभि निर्हतं च यत्" कह कर तथा यजुर्वेद में पुच्छल तारों के विषय में-"हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि। यथ'ते पृथगग्नयः" कहकर और अथर्ववेद ने इसी बात का अनुमोदन करते हुए "शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसा" के माध्यम से कैसा सुन्दर वर्णन किया है।

परोअन्तः इसी प्रकार भूगोल-विज्ञान के सम्बन्ध में "इयं वेदि पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" इत्यादि यजुर्वेद के २३वें अध्याय में कहकर पृथ्वी के परिणाम के विषय की ओर ही संकेत नहीं दिया गया, अपितु रेखागणित के द्वारा दूरस्थ वस्तुओं का स्वरूप कैसे जाना जाये यह भी संकेतित किया गया है इसी यजुर्वेद के २८वें अध्याय में "एका च मे तिस्रश्च में ति-स्रश्च में पंच च में पञ्च च मे "इत्यादि कहकर और इसी अध्याय के अनेकानेक मन्त्रों द्वारा गणित विद्या और बीज-गणित के मूल का स्वरूप भी दिखलाया गया है। इस ही सन्दर्भ में भूकम्प, जल-प्लावन, विद्युत-कोप, वायुकोप, नीतिविद्या, शिल्प शास्त्र और ज्योतिष विद्याओं की ओर भी बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।

यदि निर्दिष्ट सभी विज्ञानों के प्रदर्शक मन्त्रों के उद्धरण दिए जायें तो एक लम्बा-चौड़ा पोथा बन जायेगा। अतः संक्षेप में कुछ युद्ध-विद्या के शस्त्रों का उल्लेख तथा रेलगाड़ी और सूर्यरश्मियों से चलने वाले विमान का उल्लेख असामयिक नहीं रहेगा। प्राचीनकाल में धनुष के साथ बन्दूक, बाण के साथ गोली, तोप और एटम बम का उल्लेख विशेष रूप से रूचिकर रहेगा। "जिह्वा ज्या भवति कुड्मलं वाङ् नालीका दत्तास्तयसाभिदग्धाः ते भि ब्रह्मा विध्यति देवयीपून्। हृद्वलैः धनुभिर्देवजूतंः" इस अथर्ववेद के ५वें मण्डल के १८वें सूक्त के द्वारा तथा "यदि नो गां हिंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तन्त्वा सीसेन विध्पामो,

यथा नो सो अवीरहा ।'' अथर्ववेद के प्रथम कांड १६ में सूक्त का यह मन्त्र 'सीसेन विध्यामों इस पद से गोली की ओर संकेत कर रहा है, ''वां नालिका'' इत्यादि से बन्दूक की ओर इसी प्रकार-''अर्बुदिनामयो देव ईशानश्चन्यर्बुदि'' इत्यादि अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ९ के इस मन्त्र से एक विशेष प्रकार के विद्युत यन्त्र की ओर संकेत किया गया है । इसे महाभारत में ''ततस्तस्यामिषीकायां पावकः समजायत । प्रध्यक्ष्यन्निव लोकांस्तान् कालान्तकयमोपमः ॥'' इत्यादि रूप में इषीकास्त्र अर्थात् परमाणु बम के गुण वाला बताया गया है । युद्धों में अथवा शान्ति समय के अवसरों पर हम किस प्रकार के मार्गों से आक्रमण करें अथवा गन्तव्य स्थान पर पहुंचे, देखिए-तीन प्रकार के मार्गों का कैसा सुन्दर वर्णन अथर्ववेद १२वें काण्ड प्रथमसूक्त में प्रतिपादित है । ''ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्माडनसश्च यातवे । यैः सञ्चरन्त्युभये भद्र पापाः तं पन्थानं जयेम। न मित्रतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ।'' से जो बहुत से मार्ग जनसमूह के चलने के लिए आवश्यक हैं, उनमें दो मार्ग यान्त्रिक यानों से आने जाने के और एक मार्ग पृथक् सर्वसाधारण जनों के लिए निर्दिष्ट हैं ।

लीजिए-रेलगाड़ी का कैसा सुन्दर वर्णन अथर्ववेद के काण्ड २० सुक्त ७६ के द्वितीयमन्त्र में है । ''अनु त्रिशोकः शतमावहन्नृन् कुत्सेन रथोयो असततससवान'' अर्थात् सैकडों व्यक्तियों को लेकर लोह पथ पर दौड़ने वाला यान हमारे लिए कल्याणपद हो, इसी प्रकार सूर्यरश्मियों से विमान चलाने का विधान भी अथर्ववेद, काण्ड-२० सूक्त १४३ के पहले मन्त्र में पूर्णतया ध्यातव्य है । वह मन्त्र-''तं वां रथं वयमपारुहेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः यः सूर्या वहति बन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसु युम्र ।'' इस प्रकार अपने भाव प्रकट कर रहा है-हे मन्त्रिम् ! और हे राजन् ! तुम दोनों इस प्रकार के आकाश में चलने वाले रथ पर चढ़ो, जो सूर्य की किरणों से क्षण-भर में लाखों मील की दूरी पार करने में समर्थ हो । यहां पर सूर्य की किरणों का निर्देश करके किसी यान को तेल आदि से नहीं चलाना चाहिए, यह बात स्पष्ट है । आकाश-वाणी की चर्चा तो नाटकों में भी मिल जायेगी । दूरदर्शन का प्रमाण संजय और धृतराष्ट्र के सम्वाद में कुरुक्षेत्र युद्ध भूमि की साक्षातस्वरूप निर्देशि का गीता में स्पष्ट है ही ।

वेदों में साहित्यिक दृष्टिकोण से अलंकार, रस, गुण, दोष आदि का उल्लेख भी बड़ा ही अद्भुत रूप में मिलता है । यजुर्वेद के १७वें अध्याय के १८वें मन्त्र में ''यत्र वाणः सम्पतन्ति, कुमारा विशिखा इव'' कह कर उपमा और

पुनरुक्तवदाभास का देखिए—कैसा सुन्दर विन्यास किया है। मन्त्र में "बाणाः" और 'विशिखा' ये दोनों पर्यायवाची हैं, किन्तु 'विशिखा' शब्द बाण की तीव्रता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः बाण और विशिखा में पुनरुक्तवदाभास हो गया है और "कुमारा इव" कहकर तो उपमा स्पष्ट है ही।

लीजिए—कारणमाला और मालादीपक ये दोनों अलंकार 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते' मन्त्र में कितने स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हैं। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस मन्त्र में रूपक और 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते' वाले सूर्य सूक्त में सर्वम दो-दो अर्थ श्लेष के रूप में दृष्टव्य हैं।

वेदों में यथास्थान सभी रसों का भी प्रयोग हुआ है। 'स्थालीपुलाकन्याय' से कुछ थोड़े से उद्धरण देकर यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि वेद में विज्ञान नहीं, अपितु वेद ही विज्ञान स्वरूप हैं।

समय के अभाव से यह थोड़ा-सा वेदों में विज्ञान का जो प्रसाद वितीर्ण किया गया है, आशा है पाठक जन इस थोड़े से ही प्रसाद के आस्वादन से वेद-विज्ञान की ओर अवश्य ही प्रसन्न होकर आगे बढ़ेंगे।

लेखक—डा० नारायणमुनिश्चतुर्वेदः
प्रधानाचार्य, उपदेशक महाविद्यालय
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

०—०

आदर्श शिक्षा पद्धति

शिक्षा का अर्थ मेरी दृष्टि में पढ़ना-पढ़ाना नहीं अपितु बनना-बनाना है। अब मौलिक प्रश्न यह है कि कौन बने और कौन बनावे। इससे भी अधिक विचारणीय विषय है कहां बनायें और कब बनायें।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में समाज के लिए इसे अत्यन्त आवश्यक जानते हुए ईश्वर विषय के पश्चात् तत्काल अपनी व्याख्या का विषय बनाया। इस समुल्लास के प्रथम अंश में शतपथ का सुप्रसिद्ध वचन उद्धृत किया है–

"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेदः।"

अर्थात् उनकी दृष्टि में बनने वाला एक है किन्तु बनाने वाले तीन हैं। इन तीनों में प्रथम माता, जिसके द्वारा बालक को लोरियों के माध्यम से दिया हुआ विचार संस्कार के रूप में अन्ततोगत्वा परिणत हो जाता है, जो उसका चिरसाथी बन जाता है। इसी कारण उन्होंने माताओं को विदुषी एवं धर्म-परायणा एवं निर्मातृ होने पर बल दिया है। दूसरा निर्माता पिता है, जिसके आश्रम में बालक का पालन-पोषण होता है। बहुत अंशों में पुत्र और पुत्रियां अपने माता-पिता के आधीन रहते हैं, इस प्रकार पिता का सदाचारी, परिश्रमी और परोपकारी वृत्ति वाला होना अत्यन्त आवश्यक है।

पूर्वांचल के ग्रामीण क्षेत्र में अत्यन्त सुप्रसिद्ध लोकोक्ति है "बाढ़े पूता के घर में, खेती बाढ़े अपने कर में" अर्थात् पुत्र का ऐश्वर्यवान्, धर्मात्मा और पुरुषार्थी होना, पिता के चरित्र का प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके पश्चात् तीसरे निर्माणकर्त्ता का प्रश्न है, जिसे हम आज की भाषा में अध्यापक, शिक्षक, तथा टीचर कहते हैं। यह अन्तिम निर्माणकर्त्ता है। इससे निर्माण की दिशा में होने वाली भूल-चूक के संशोधन का प्रश्न ही शेष नहीं रहता, जैसे चित्रकार किसी छवि को अंतिम रूप देने के बाद (   ) जब उसे कला-भवन से बाहर निकाल देता है तो उस छवि में उपस्थित त्रुटियां उस कलाकार के कला का मानदण्ड बन जाता है और जनता-जनार्दन उसकी कला के सम्बन्ध में

शिक्षकों को जो शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत हैं, शिक्षा के लक्ष्यों, आदर्शों और सार्थक पद्धतियों से अवगत करायें। अन्ततोगत्वा किसी भी संस्था का स्तर वहां के शिक्षकों के स्तर से ऊंचा नहीं हो सकता। इसलिए हमें धारावाहिक रूप से शिक्षकों के प्रशिक्षित करने हेतु संगोष्ठियां एवं कार्यशालाओं का आयोजन करना पड़ेगा और प्रयास करना पड़ेगा कि अधिक से अधिक शिक्षक कम से कम समय में आज और कल की आवश्यकतानुसार शिक्षा प्रदान करने के योग्य बन जायें। उनके लक्ष्य ध्रुव हों, उनके आदर्श स्थिर हों, उनमें आत्मविश्वास हो, उनके संकल्प शिव हों, सेना की विजय बहुत करके उसके नेताओं के मनोबल पर आधारित होती है। मनोबल के बढ़ाने के लिए सुदृढ़ व्यक्तित्व और आधुनिक उपकरणों की आवश्यकता होती है। यह है आज के शिक्षाशास्त्रियों के सम्मुख चुनौती।

लेखक :- बलभद्रकुमार हूजा

०–०

वेदों में शिक्षाशास्त्र के कतिपय सूत्र

वैदिक विचारधारा के अनुसार बालक शैशव पार कर मातृमान्, पितृमान् बन आचार्यवान् होने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तथा आचार्य रूपी अग्नि में अपने आप को समिधा बना कर ज्ञानज्योति से प्रदीप्त होने का प्रयास करता है। प्रथम आश्रम शिक्षा का आश्रम है। वेदों का अध्ययन करते हुए हमें शिक्षा-शास्त्र के कई उपयोगी सूत्र प्राप्त होते हैं।

शिक्षक के गुण

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में आचार्य को मृत्यु, वरुण सोम, ओषधि और पयः कहा गया है[1]। इस से शिक्षक के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्रथम शिक्षक को मृत्यु होना चाहिए, उसके अन्दर मार सकने का सामर्थ्य होना चाहिए। विद्यार्थी यदि कोई कुसंस्कार लेकर आया है तो उन्हें मारे बिना वह उसका निर्माण नहीं कर सकता। जो आदर्श माता-पिता की सन्तान होते हैं तथा सब प्रकार के कुप्रभावों से दूर होते हैं, ऐसे उत्तम विद्यार्थी शिक्षक को सदा नहीं मिल पाते। जिन कुसंस्कारों को साथ लेकर विद्यार्थी आते हैं वे कई प्रकार के हो सकते हैं। कइयों का शब्दोच्चारण दूषित होता है, कई मिथ्या ज्ञान लेकर आते हैं। वायु क्यों चलती है, आँधी क्यों आती है: सूर्य-चन्द्र का ग्रहण क्यों होता है, भूकम्प क्यों आता है आदि बातों का उत्तर आप नव-प्रविष्ट बालकों से पूछिये तो कई मनोरंजक अज्ञान की बातें सुनने को मिलेंगी। उदाहरणार्थ एक बालक से पूछा गया कि वायु क्यों चलती है। उसने बताया कि एक बहुत बड़ा दैत्य है जिसका सिर आकाश को छूता है, उस के मुख की फूंक ही यह हवा है, जिस दिशा में जाकर वह फूंक मारता है उसी दिशा से हवा आती है। फिर कई नैतिक दृष्टि के कुसंस्कार भी बालकों में होते हैं, जैसे असत्य-भाषण, चोरी, गाली देना आदि। सफल शिक्षक वह है जो मृत्यु बन कर विद्यार्थी के सब कुसंस्कारों को मार सके। मारना भी एक कला है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति निपुण नहीं हो सकता। शिक्षक को अवश्य ही इस कला में निपुण होना चाहिए। इसके लिए उसे एक अच्छा बालमनोविज्ञानवेत्ता होना आवश्यक है।

शिक्षक का दूसरा गुण है वरुणत्व । वरुण वेद के प्रथित देवों में से एक है। उसके पास सैंकड़ों-सहस्त्रों पाश हैं, उसके अनेकों गुप्तचर हैं, जो सहस्त्राक्ष होकर सर्वत्र घूमते हैं। उन की दृष्टि से कुछ भी नहीं छिपता । ज्यों ही कोई व्यक्ति पाप करता है, वे देख लेते हैं और वरुण अपने पाश से उसे बांध लेते हैं। शिक्षक की दृष्टि बहुत पैनी होनी चाहिए। उसे छात्रों की प्रत्येक गतिविधि का परिचय रहना चाहिये। छात्र कौन सी अच्छी या बुरी आदतों में पड़ रहा है; जिन में उसे उत्साहित या अनुत्साहित करने की आवश्यकता है, यह उसे ज्ञान होना चाहिये। अपने प्रष्येक छात्र पर ऐसी मूक्ष्म दृष्टि रखने वाला तथा आवश्यकतानुसार अंकुश रख कर छात्र को बुराई से बचाने वाला शिक्षक ही वरुण है।

फिर शिक्षक को सोम होना चाहिए। सोम का अर्थ है चांद। शिक्षक चांद के समान सौम्य, आकर्षक एवं प्रिय हो। जैसे चन्द्र से सब आह्लादित होते हैं, वैसे ही शिक्षक के सान्निध्य में आह्लाद अनुभव करें। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण होना चाहिए। वेद में सोम का दूसरा अर्थ सोमलता भी होता है। सोमलता का रस अपूर्व वीरता, बुद्धि, मनीषा को प्रदान करता है, वैसे ही शिक्षक को छात्र में इन गुणों को भरने वाला होना चाहिए।

शिक्षक की अगली विशेषताएं हैं उसका 'औषधि' तथा 'पय' होना। औषधि रोगों को दूर करती है, वैसे ही शिक्षक छात्र के शारीरिक एवं मानसिक रोगों को हरण करने वाला हो। शिक्षक का कार्य केवल पुस्तक का पाठ पढ़ा देना नहीं है। छात्र के शारीरिक एवं नैतिक निर्माण का उत्तर-दायित्व भी उस पर है। कई बार छात्र भंयकर दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है। औषधि बन कर छात्र का उससे उद्धार करने का गुरुतर कार्य भी शिक्षक का है। शिक्षक 'पयः' या दूध भी है। दूध पुष्टिकारक होता है, वैसे ही शिक्षा को छात्र की सर्वतोमुखी पुष्टि करने वाला होना चाहिए। छात्र यह अनुभव करे कि शिक्षक के समीप रह कर प्रतिदिन मैं नवीन पुष्टि प्राप्त कर रहा हूं, मेरा ज्ञान, मनोबल, चरित्र-बल आदि उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्ट हो रहा है।

मन्त्रोक्त इन गुणों के अतिरिक्त शिक्षक कतिपय अन्य गुण भी विध वैदिक प्रसंगो से सूचित होते है। वेद में शिक्षक को वचस्पति नाम से स्मरण किया गया है। इस से प्रकट होता है कि जिस वाङ्मय या विषय का वह

अध्यापन करता है, उस पर उसका प्रभुत्व होना चाहिये। साथ ही वाक्‌कला में भी उसे निष्णात होना चाहिये, जिससे उस विषय को समझा सके। कुछ शिक्षकों में ज्ञानगाम्भीर्य तो होता है, पर वाक्कला नहीं होती, कुछ में वाक्कला होती है पर ज्ञानगाम्भीर्य नहीं होता। उत्तम शिक्षक वह है जिसमें ये दोनों विशेषतायें हों, यह वाचस्पति शब्द से सूचित होता है। शिक्षक के लिए प्रयुक्त होने वाले वैदिक ब्रह्मणस्पति तथा बृहस्पति शब्द भी यही बताते हैं। वेद में शिक्षक को 'वसोष्पति' भी कहा है। वसु का अर्थ विद्याधन लें तो यह शब्द शिक्षक की अगाध विद्वता की ओर इंगित करता है, पर केवल विद्याधन ही नहीं, सामान्य धन अर्थ भी लेना यहां उचित है। शिक्षक की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी होनी चाहिए, उसे अच्छी दक्षिणा मिलनी चाहिए जिससे वह निश्चिन्त होकर सर्वात्मना अपने छात्रों के निर्माण में समय दे सके।

शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध

शिष्य जब शिक्षणालय या गुरुकुल में प्रविष्ट होने के लिए शिक्षक के पास पहुंचता है, तब वह उसका उपनयन-संस्कार करता है। वेद का कथन है कि "शिक्षक उपनयन संस्कार कर के शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर लेता है। उसे तीन रात्रि अपने उदर में रखता है। फिर जब शिष्य जन्म लेता है तब उस के दर्शन के लिए देव एकत्र होते हैं[2]।" यह वर्णन शिक्षक-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है। शिष्य का शिक्षक के अधीन रहना वैसा ही है जैसे शिशु का माता के गर्भ में रहना। गर्भस्थ शिशु का जैसा निकट सम्बन्ध माता के साथ होता है वैसा ही शिष्य का शिक्षक के साथ होना चाहिए। यज्ञोपवीत देने को उपनयन संस्कार इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा शिक्षक-शिष्य को अपने समीप लाता है। शिष्य, तीन रात्रि शिक्षक के गर्भ में वास करता है। यहां तीन दिन न कह कर तीन रात्रि कहना साभिप्राय है। रात्रि अज्ञान का उपलक्षक है। शिष्य त्रिविध अज्ञान से घिरा होता है। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर प्रथम रात्रि पार हो जाती है, माध्यमिक शिक्षा पूर्ण होने पर द्वितीय रात्रि एवं उच्च शिक्षा समाप्त होने पर तृतीय रात्रि। यह आजकल की दृष्टि से स्थूल वर्गीकरण है। अन्यथा ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासना-काण्ड विषयक अज्ञान को एक-एक रात्रि माना जाता है। तीन रात्रि गर्भ में रहकर फिर शिष्य जन्म लेता है, स्नातक बनता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज इसीलिए कहते हैं कि एक बार वे माता के गर्भ से तथा दूसरी बार आचार्य के गर्भ से जन्म लेते हैं। जब वह स्नातक बनता है तब देवजन उसके दर्शनार्थ एकत्र होते हैं। इस आलंकारिक

वर्णन से वेद निर्दिष्ट करता है कि शिक्षक का शिष्य के प्रति माता का सा सम्बन्ध हो तथा माता गर्भस्थ शिशु के लिए जो बलिदान करती है, शिक्षक भी शिष्य के लिए वह बलिदान करने के लिए उद्यत रहे।

अथर्ववेद के प्रथम सूक्त में शिष्यों की ओर से शिक्षक को कहलाया गया है कि "आप देव मन के साथ पुनः पुनः हमारे बीच आइये[3]।" इससे सूचित होता है कि वैदिक शिक्षक-शिष्य में ऐसा मधुर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है कि शिष्य शिक्षक को पुनः पुनः अपने मध्य आने के लिए निमन्त्रित करते हैं। दूसरी बात यह है कि शिक्षक को शिष्यों से व्यवहार करते समय सदा 'देव मन' से युक्त होना चाहिये। कभी शिक्षक दुर्बलतावश अपने मन को शिष्यों के प्रति 'अदेव' न होने दे। इसी सूक्त में आगे कहा है—"हम शिक्षक को निमन्त्रित करते हैं, शिक्षक हमें निमन्त्रित करे[4]।" पारस्परिक स्नेह, विनय, आदर, शिष्टाचार, माधुर्य का कैसा सुन्दर निदर्शन है।

शिक्षण पद्धति

शिक्षक की शिक्षण-पद्धति कैसी हो इस पर भी प्रस्तुत सूक्त सुन्दर प्रकाश डालता है। शिक्षण पद्धति नीरस न हो कर सरस होनी चाहिए, छात्र को उकता देने वाली न हो कर आकर्षक होनी चाहिए। "हे गुरुवर, आप ऐसे खेल खेल में पढ़ाइये कि जो कुछ मैं सुनूं मुझ में ही रहे[5]।" "जो कुछ हम गुरुमुख से सुनें उससे संगत रहें, उसे हम विस्तृत न करें"।[6] शिक्षक को चाहिए कि जैसे प्रत्यञ्चा से दोनों धनुष्कोटियों को तान दिया जाता है, वैसे ही अपनी वाणी से शिष्य की बुद्धि में पाठय विषय को ऐसा तान दे, स्पष्ट कर दे, कि वह कभी विस्मृत न हो।[7] शिक्षक इन गंभीर, विशाल द्यावापृथिवी को, इसके अन्दर विद्यमान वस्तुओं को छात्र के सम्मुख ऐसा गढ़-छील कर रख दे कि वे उस के सामने हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाये।[8] तभी तो छात्र उन्हें हृदयंगम कर सकेगा। 'जो कुछ हम सुनें वह विस्मृत न हो' यह कह कर वेद इस ओर ध्यान आकृष्ट करता प्रतीत होता है कि अध्यापक इस शैली से पढ़ाये कि छात्रों को कक्षा में ही पाठ स्मरण हो जाये। छोटे बालकों के लिए शैली विशेष रूप से उपादेय है।

ऋग्वेद का ज्ञानसूक्त शिक्षण के एक अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व की ओर निर्देश करता है। "एक सी आंखों वाले तथा एक से कानों वाले भी सहाध्यायी मनोवेग में असमान होते हैं। कुछ मुखपर्यन्त पानी वाले सरोवर के तुल्य होते

हैं, तो कुछ कक्षपर्यन्त पानी वाले सरोवर के तुल्य, और अन्य कुछ यथेच्छ स्नान करने योग्य लबालब सरोवरों के तुल्य होते हैं[9] ।" इस में इस तथ्य की ओर प्रकाश डाला गया है कि साथ पढ़ने वाले छात्रों की ग्रहणशक्ति एक समान नहीं होती। अतः शिक्षक को पढ़ाते समय सभी छात्रों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि सभी स्तर के छात्र विषय को ग्रहण कर सकें। यदि वह तीव्र बुद्धि वाले छात्र के स्तर से पढ़ायेगा तो शेष छात्र वंचित रह जायेंगे। एक और बात जो इससे ध्वनित होती है वह यह है कि क्योंकि छात्रों का मनोजव या मनोरुचि भिन्न-भिन्न होती है, अतः पाठ्य विषयों के चुनाव में उन की रुचि का भी ध्यान रखा जाना चाहिये। प्रत्येक छात्र प्रत्येक विषय में निष्णात नहीं बन सकता। अतः सभी छात्रों को एक से विषय पढ़ाना उन पर अत्याचार है। पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों के निर्वाचन की सुविधा रहनी चाहिये।

सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिये, क्योंकि "जिस ने पुष्प-फल-रहित या क्रियात्मक-ज्ञान-रहित विद्या को सुना है वह मानो दूध न देने वाली गाय को साथ लिए फिरता है[10] ।" शिक्षण में विषय के अनुरूप विचारात्मक, वर्णनात्मक, संवादात्मक, कथात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया जाना चाहिए[11] । ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में उपमा द्वारा उस शैली की ओर संकेत किया गया है जिसमें पहले शिक्षक कोई वाक्य बोलता है और उसके पीछे शिष्य उसे दोहराते हैं—मेंढक के पीछे दूसरा मेंढक ऐसे ही बोल रहा है जैसे शिक्षक के पीछे शिष्य[12] ।' अधिकतर बालकों के शिक्षण में इस शैली के प्रयोग की आवश्यकता होती है ।

शिक्षा में तप का स्थान

प्रधान शिक्षक या आचार्य आश्रम में प्रविष्ट करते समय शिष्य की कटि में मेखला बाँधता है। वह कहता है मेखला-बन्धन करता हुआ मैं उसे ब्रह्मचर्य तप और श्रम से बाँधता हूं[13] । शिक्षा काल में ब्रह्मचर्य, तप और श्रम का बहुत महत्त्व है । ब्रह्मचर्य का अर्थ है ज्ञान, सत्य एवं सदाचरण की साधना का व्रत-ग्रहण तथा उसके पालन की अनवरत निष्ठा व तत्परता। ब्रह्मचर्य का प्रचलित स्थूल अर्थ भी इसीमें समाविष्ट है। तप का अर्थ है द्वन्द्वसहन सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि को समभाव से प्रसन्नतापूर्वक सहन करना एवं सरल सदा जीवन व्यतीत करना। श्रम से अभिप्राय है शारीरिक व्यायाम और विद्यार्जन-काल में किये जाने वाले बागवानी, करघा, लकड़ी का काम आदि श्रमसाध्य उद्योग-धन्धे।

वैदिक मेखला-बन्धन इन सब का प्रतीक है। शिक्षा-काल में इनके अनुष्ठान से मति, मेधा इन्द्रियशक्ति आदि का भी विकास होता है[14]। ब्रह्मचर्यसूक्त में लिखा है कि ब्रह्मचारी जब स्नातक बन कर बाहर आता है, तब जनता उसे कहती है कि तुम हमें प्राण, अपान, व्यान, वाक्, मन, हृदय, ब्रह्म, मेधा, चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, रुधिर और उदरशक्ति प्रदान करो। इन सब वस्तुओं तथा शक्तियों को उसने ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या एवं साधना के साथ संचित किया होता है[15]। ब्रह्मचर्य काल में वह जिन परा एवं अपरा रूपी गुह्य विद्याओं का अध्ययन करता है, उन्हें तप द्वारा ही अपने अन्दर रक्षित करता है[16]। श्रुति कहती है कि छात्र शास्त्रों का श्रवण, मनन, अध्ययन करते हुए मेधावी तथा दीर्घायु तभी बन सकते हैं, जब वे ब्रह्मचर्याश्रम में भरपूर तप कर [17] इस प्रकार वैदिक दृष्टि में तप और व्रतपालन की बडी महिमा है। आज भी शिक्षा-शास्त्री इस का महत्व समझते हैं।

इसके अतिरिक्त शिक्षा-विज्ञान के अन्य भी अनेक तत्त्व वेदों में बिखरे हुए हैं, जिनका अन्वेषण एवं संकलन उपयोगी हो सकता है।

लेखक : डा० रामनाथ वेदालंकार

---

1 आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन् सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥ अथर्व ११.५.१४

2 आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ अथर्व ११.५.३

3 पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। अथर्व १.१.२

4 उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्। अथर्व १.१.४

5 वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। अथर्व १.१.२

6 सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। अथर्व १.१.४

7 इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ अथर्व १.१.३

8 आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च । अथर्व ११.५.८

9 अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ।। ऋग् १०.७१.७

10 अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् । ऋग् १.७१.५

11 वेदों में इन सब शैलियों का प्रयोग मिलता है । यथा, नासदीय सूक्त में विचारात्मक शैली, प्राकृतिक वर्णनों में वर्णनात्मक शैली, उर्वशी-पुरुरवा संवाद आदि में संवादात्मक शैली, इंद्र-वृत्र-युद्ध आदि में कथात्मक शैली, विविध शैलियों के परिचयार्थ द्रष्टव्य :

लेखक का शोध-प्रबन्ध "वेदों की वर्णन-शैलियां", श्रद्धानन्द-शोध-संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ।

12 शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः । ऋग ७.१०३.५

13 तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि । अथर्व ६.१३३.३

14 सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च । अथर्व ६.१३३.४

15 प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् । चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ।। तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे । अथर्व ११.५.२५,२६

16 तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी । अथर्व ११.५.१०

17 अग्ने तपस्तप्यामहे उपतप्यामहे तपः । श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ।। अथर्व ७.६१.२

०–०

वेदों में विज्ञान

वेदों के अतिरिक्त संसार भर के जितने भी धार्मिक ग्रंथ हैं उनमें से कोई भी ग्रंथ यह दावा नहीं कर सकता कि उन में जो ज्ञान विज्ञान भरा पड़ा है, उसका वैज्ञानिक आधार भी है। जहां तक वेदों का संबंध है, उनके विषय में तो भारतवासियों की यह सामान्य धारणा रही है कि ईश्वर ने जिस प्रकार मनुष्य को देखने के लिए चक्षु प्रदान किये, उसी प्रकार सृष्टि की उत्पति के समय मनुष्य जाति को इहलौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति हेतु वेदों का प्रकाश दिया और ये वेद विज्ञान रूपी तत्वों के भंडार हैं और इनका शुद्ध वैज्ञानिक आधार है। वेदों के विषय में तैतरीय ब्राह्मण में लिखा है कि इनमें सब विद्याएं हैं अयं वै सर्वा विद्या इति। मनु महाराज ने तो यहां तक कहा है कि चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीनों लोक, भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाली सारी चीजें ये सब वेद से जानी जाती हैं। निश्चित ही वेद शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेवाओं का संचालन, राज्य शासन का संचालन, दंड नेतृत्व अथवा न्याय व्यवस्था का संचालन और सर्व लोकाधिपत्य अर्थात सारी धरती के राज्य का संचालन कर सकता है। वेदांत दर्शन के रचयिता महर्षि व्यास, ब्रह्म अथवा ईश्वर की सिद्धि के लिए सृष्टि कतृत्व की युक्ति का आश्रय लेते हैं, अर्थात क्योंकि सृष्टि है, इसलिये इसका रचयिता भी है। फिर आगे वे कहते हैं—'शास्त्र योनित्वात्' अर्थात वेद जैसी ज्ञान की भंडार पुस्तकें अपने आप नहीं बन सकती, इसलिए कोई उनका कर्ता होना चाहिये और वह कर्ता है ब्रह्म। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए जगत प्रसिद्ध शंकराचार्य जी लिखते हैं कि ऋग्वेदादि वेद शास्त्र अनेक विद्याओं युक्य हैं। दीपक की भांति सब पदार्थों का बोध कराने वाले इनमें इतना अधिक ज्ञान भरा हुआ है कि ये सर्वज्ञ जैसे दीखते हैं। इसका कारण ब्रह्म ही हो सकता है। इसी प्रकार हमारा संपूर्ण साहित्य उक्त तथ्यों का साक्षी है।

वेदों की इस सर्वज्ञता-सी धारणा के विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थों ने वेदों को कर्मकांड के ही ग्रंथ माना है। वेदों के केवल यज्ञ परक ग्रंथ घोषित करने का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन काल से जो यह मान्यता चली आ रही थी कि

वेद सब ज्ञान विज्ञान के भंडार हैं, वह लुप्त प्रायः हो गई। वेदों का उद्देश्य केवल यज्ञ है, यह धारणा बलवती होती गई और यह इतनी गहरी जड़ पकड़ गई कि स्कंद स्वामी, मुद्गलाचार्य, उद्गीथाचार्य, वेंकटमाधव, उव्वट, महिधर, सायण और रावण जितने भी भाष्यकार हुए उनके भाष्य यज्ञ-परक ही रहे हैं। आचार्य जैमिनि तथा अन्य मीमांसकों ने 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात' कहकर वेद मंत्रों का एक मात्र प्रयोजन कर्म कांड निरूपण स्वीकार किया।

महर्षि दयानन्द तक जितने भी भाष्यकार हुए, उन्होंने वेदों के अर्थ कर्म-कांड तक ही सीमित रखे, यद्यपि स्कन्द स्वामी ने जो सायण से ८०० वर्ष पूर्व हुए, लिखा है कि निरुक्त भाष्यकार यास्क ने यज्ञादि को पुण्य फल रूप बताते हुए वेद के सब मंत्रों का तीन प्रकार का अर्थ बतलाया है। महर्षि दयानंद ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में वेदों के विषय पर विचार करते हुए लिखा है कि वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—एक विज्ञान, अर्थात सब पदार्थों को जानना, दूसरा कर्म, तीसरा उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत उपयोग लेना और परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात बोध का होना, उनसे यथावत उपयोग का करना। इससे यह विषय चारों में प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। विज्ञान भी दो प्रकार का है एक तो परमेश्वर का यथावत ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों का यथावत विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना। महर्षि आगे लिखते हैं कि वे अपने भाष्य में कर्मकांड संबंधी मंत्रों का उतना ही अर्थ करेंगे, जितना की मंत्रों से सीधा निकलता है। कर्मकांड किस प्रकार किया जाये, इसकी व्याख्या वे नहीं करेंगें, क्योंकि विस्तृत व्याख्या तो ऐतोय शतपथ ब्राह्मणों पूर्व मीमांसा, श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में की गई है, पर जो जो कर्मकांड वेदानुकूल युक्ति प्रमाण सिद्ध है उसी को मानने योग्य है। जिन मंत्रों के उपासना परक अर्थ निकलते हैं, उनकी भी वे विस्तार से व्याख्या नहीं करेंगे, क्योंकि विस्तृत व्याख्या तो पंतजील के योगशास्त्र में की गई है, पर जितना मूलमंत्रों के अनुकूल है, उतना ही स्वीकार करना चाहिये। यही बात उन मंत्रों पर भी लागू होती है, जिनके ज्ञान परक अर्थ निकलते हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या सांख्य वेदांत ग्रंथों तथा उपनिषदों में उपलब्ध है, पर यहां भी जो वेदानुकूल है, वही स्वीकार्य है। महर्षि ने अपने भाष्य में निरुक्त को आधार बना कर विज्ञान परक अर्थ को प्रधानता दी है अर्थात् परमेश्वर परक और दूसरे पदार्थ परक अर्थात्

पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक। प्रारंभ में ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों के जो नमूने का भाष्य लिखकर महर्षि ने जो प्रकाशित किया था, उसमें प्रत्येक मंत्र के दो दो अर्थ दिये गये थे, अर्थात आध्यात्मिक और व्यावहारिक। स्वामी जी ने कहा है कि जहां किसी मंत्र के दोनों अर्थ निकलते हैं, तो वे दिये जायेंगे। पर जहां ईश्वर परक अर्थ ही यदि किसी मंत्र का निकलता है तो भी वहां पदार्थ परक अर्थ से इन्कार नहीं किया जा सकता है और जहां पदार्थ परक अर्थ ही किसी मंत्र का निकलता है तो भी वहां ईश्वर परकअर्थ से इन्कार नहीं हो सकता। यह सृष्टि और सृष्टिकर्ता का संबंध है। महर्षि जहां वेदों में परा अर्थात अध्यात्म विद्या को मानते थे वहां वे वेदों में भौतिक अथवा अपरा विद्याओं का अस्तित्व भी स्वीकार करते थे। सृष्टि और सृष्टिकर्ता का यह संबंध वड़ा अनुपमं है। सृष्टिकर्ता और सृष्टि अलग अलग होते हुए भी उसी प्रकार एक हैं जैसे महर्षि दयानन्द और सत्यार्थ प्रकाश। यदी हम सृष्टि के पदार्थों को एवं उसके नियमों को समझ रहे हैं तो हम ईश्वर को भी समझ रहे हैं। इस वात की पुष्टि में कि वेदों में भौतिक विद्याएं विद्यमान हैं, महर्षि ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कतिपय प्रकरण लिखे हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने वेदमंत्रों के आधार पर सृष्टि विद्या, पृथिव्यादि लोक भ्रमण, धारणाकार्ण विषय, प्रकाश्य प्रकाशक विषय, गणित विद्या, नौविमानादि विद्या, तार विद्या, वैद्यकशास्त्र आदि को स्पष्ट किया है। इस प्रकार लिखने से महर्षि का अभिप्राय वस्तुतः यह नहीं था कि वेद में आधुनिक विज्ञान के विविध आविष्कार अपने यथातथ्य रूप में विद्यमान है, अपितु उनका भाव तो केवल इतना था कि विज्ञान के मूल सिद्धांत अपने वीज रूप में वेद मंत्रों में वर्णित हुए हैं और विभिन्न शास्त्रज्ञ महर्षियों तथा भौतिक विद्याओं के मनीषियों ने उन वेद प्रतिपादित भौतिक सिध्दान्तों के आधार पर ही भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञान के विभिन्न रहस्यों का उद्घाटन किया था।

प्राचीन मान्यता के अनुरुप वेदों में विज्ञान की सत्ता का निरुपण कर महर्षि ने वेदाध्ययन के एक नये आयाम का ही उद्घाटन किया है, जिसपर सारे शोध और अनुसंधान उपेक्षित हैं। इस प्रसंग में योगी अरविंद ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि स्वामी दयानंद का वेद में विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करना किंचित भी आश्यर्चकाख नहीं है अपितु उन्होंने तो यहां तक कहा कि वेदों में विज्ञान के कुछ ऐसे तथ्य भी पाये जाते हैं, जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक अभी तक जान भी नहीं पाये हैं। मूल अंग्रेजी उध्दरण इस प्रकार है :—

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that the Veda contains truth of Science as well as truth of religion. I will even add to my conviction that the Veda contains the others truths of Science the modern world does not at all possess and in that case Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom."

महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में सृष्टि विद्या विषय प्रकरण में ऋग्वेद के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ईश्वर ने प्रत्येक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि रची है और उनके नाम भी दिये हैं। पृथ्वी किस प्रकार रची गई है इसका भी उल्लेख किया है। वैज्ञानिकों को इस नये रहस्य पर विचार एवं अनुसंधान करना चाहिए। क्योंकि आधुनिक विज्ञान अभी तक इस सीमा तक नहीं पहुंच पाया है।

महर्षि की भाष्यभूमिका एवं वेदभाष्य से प्रेरणा प्राप्त करके पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने ऋग्वेद के प्रथम मंडल के कुछ मंत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या की है। उदाहरणार्थ :—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता।

मंत्र में वर्णित मित्र और वरुण क्रमशः उद्जन और ओषजन के प्रतीक है, जिनके एक विशिष्ट मात्रा (H_2O) में मिलने से जल की उत्पति होती है। इसी प्रकार डा० धर्मदेव मेहता ने कई पुस्तिकाएं प्रकाशित की, यथा—

Science of Physics and Chemistry in Vedas, Mathematics in the Vedas, Bases of Astrology in the Vedas, Medicines in the Vedas.

स्वामी भूमानंद सरस्वती ने भी दो निबंध लिखे :—

Engenies in the Vedas, Anatomy in the Vedas and Scientific Gleanings Vedic Mythology.

कुछ अन्य प्रयत्न भी किये गये :—

वेद मंत्रों पर मनन करके बडी वैज्ञानिक प्रगति हुई। हमारे प्राचीन साहित्य में कई प्रकार के वायुयानों का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण में

पुष्पक विमान का तो उल्लेख सर्व विदित है ही। भागवत में वर्णित है कि शल्व राजा के पास एक ऐसे विमान का वर्णन है, जो भूमि, आकाश और जल में भी आसानी से चलता था। रामायण में लिखा है कि विश्वामित्र ने रामचन्द्र को ५५ प्रकार के अस्त्र प्रदान किये थे। महाभारत युद्ध में भयंकर से भयंकर अस्त्र शस्त्रों का उल्लेख है।

अब प्रश्न उठता है कि जब वेदों में ज्ञान विज्ञान भरा पड़ा है, तो वह गया कहां? वेदों के मंत्रों पर मनन करके ऋषियों ने ज्ञान विज्ञान के जिन ग्रन्थों का निर्माण किया, वे ग्रन्थ गये कहां? महाभारत युद्ध से पूर्व ज्ञान विज्ञान अपनी चरम सीमा पर था और युद्ध के साथ वह भी समाप्त हो गया। महर्षि दयानंद ने महाभारत युद्ध के उपरांत जो समय है, वह अवनति का काल माना है। महाभारत युद्ध कोई छोटा मोटा युद्ध नहीं था। इसकी तुलना प्रथम अथवा द्वितीय विश्व युद्ध से भी नहीं की जा सकती। इसकी तुलना तो केवल भावी आणविक युद्ध से की जा सकती है, जब सब कुछ नष्ट हो जायेगा। महाभारत युद्ध में जो भयंकर नर संहार हुआ सभी सशक्त लोग मारे गये। साहित्य संस्कृति एवं ज्ञान विज्ञान सब कुछ युद्ध की होली में जलकर स्वाहा हो गया। जो कुछ ग्रंथ बचे थे, या तो वे समय के प्रभाव से नष्ट हो गये या मुसलमानों द्वारा जला दिये गये। फिर जो ग्रन्थ मिले हैं, वे अपूर्ण हैं, अर्थात महर्षि भारद्वाज का विमान शास्त्र। भाषा भी बड़ी प्राचीन है और तकनीकी शब्दों के अर्थ तो समझ में ही नहीं आते। एक खेद जनक बात और है वह यह है कि जिन महानुभावों को प्राचीन ज्ञान विज्ञान के विषय में पता था, वे दूसरों को बतलाते नहीं थे, जिसका यह परिणाम हुआ कि उनकी मृत्यु के साथ ही वह ज्ञान भी नष्ट हो गया। आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान संबंधी प्राचीन ग्रन्थों की खोज की जाये। यह असंभव नहीं की प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ न मिल पायें। राजे महाराजाओं के पुस्तकालयों में अनेक ग्रंथ अब भी सुरक्षित हैं, जिन्हें आज तक देखा किसी ने नहीं। एक समस्या और है। हमारे प्राचीन विज्ञान संबंधी ग्रंथ अधिकांशत: संस्कृत में हैं। इन ग्रंथों का अध्ययन करने के लिये ऐसे विद्वान चाहिये जो संस्कृत के भी पंडित होते हों और विज्ञान की किसी एक शाखा के भी। देखा गया है कि जो संस्कृत के पंडित होते हैं वे विज्ञान के अनभिज्ञ होते हैं और जो विज्ञान में निष्णात हैं उन्हें संस्कृत नहीं आती। गुरुकुल कांगडी के प्रारंभिक वर्षों में इस प्रकार की पाठविधि चलती थी, जिसमें संस्कृत के साथ साथ विषय भी होते थे, पर यह चल नहीं पाई। अब विश्वविद्यालय अनुदान

ग्रायोग ने इंटर डिसिप्लिनरी शिक्षा की बात की है। यदि संस्कृत के साथ साथ विज्ञान विषय भी पढाये जायें तो कुछ न कुछ शोधकता ग्रवश्य निकल ग्रायेंगे। ग्रभी इतना तो किया जा सकता है, कि जहां जहां विज्ञान पढ़ाया जाता है, वहां भारतीय विज्ञान का एक पत्र भी चला दिया जाये, ताकि छात्रों को ग्रपनी प्राचीन विज्ञान उपलब्धि के विषय में जानकारी हो सके। हमारी एक कठिनाई ग्रौर है। हम किसी बात का उस समय ग्रादर करते हैं, जब कोई विदेशी उस बात को कहता है। जिस दिन कोई विदेशी विद्वान यह घोषणा करेगा कि संस्कृत ग्रंथों में ज्ञान विज्ञान भरा पड़ा है, हम उस दिन इस बात को स्वीकार करेंगे, उससे पूर्व नहीं। लखनऊ के इमामबाड़े में जो विशाल हाल है, उसमें कहीं भी खड़े हो जाइये, ग्रावाज साफ सुनाई देगी। कोई माइक्रोफोन ग्रादि नहीं है। इसी प्रकार गोलकुंडा के किले के द्वार पर की गई ध्वनि तीन फ़लाँग की दूरी पर सुनाई देती है। यदि इन पर खोज की जाये, तो एक नई दिशा मिल सकती है ग्रनुसंधान को। कुतव मीनार, दिल्ली के पास जो लोहे की लाट है, उसकी तो जर्मन वैज्ञानिक खोज कर ही रहे हैं। हम ग्रपने घर में ग्रपनी ही चीजों पर खोज नहीं कर सकते।

हम उस दिन की प्रतीक्षा में रहेंगे, जब संस्कृत ग्रौर विज्ञान के पंडित संस्कृत के ग्रंथों का ग्रध्ययन करके उनमें से नये नये रत्न निकालेंगे। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानव ग्राधुनिक विज्ञान में भारी उन्नति कर चुका है। वह चन्द्रमा पर तो पहुंच गया है ग्रौर साथ ही ग्रन्य ग्रहों पर वायुयान भेज रहा है। कम्प्यूटर ग्रौर रोवट का ग्राविष्कार हो चुका है। कई बार तो ऐसा लगता है कि जिस प्रकार के सुपरमैन ग्रथवा महामानव की कल्पना ग्ररविंद करते हैं, वह ग्रा चुका है। इस संसार की वैज्ञानिक दौड़ में भारत को पीछे नहीं रहना चाहिये। वस्तुत: वेदों का तो संदेश यह है कि मनुष्य को सृष्टि के पदार्थों को जानकर उनका उपयोग करना चाहिये। ग्राधुनिक विज्ञान भी वही कर रहा है, जो वेदों का ग्रादेश है। जितनी मात्रा में हम सृष्टि के रहस्यों को समझेंगे, उतनी ही मात्रा में हमें सृष्टिकर्ता की ग्रसीमता का ग्राभास होने लगेगा। इस प्रकार सृष्टि के माध्यम से हम सृष्टिकर्ता को समझने में सफल होंगे।

लेखक :- डा० गंगाराम गर्ग,
वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर

—०—

वीर्य को गिराता वह अपने व्रत को भंग कर लेता है ।

आज की शिक्षा प्रणाली के अनुसार जो छात्र संयमी होवे या न होवे इस की बिलकुल भी अपेक्षा नहीं की जा सकती है । केवल गणित इतिहास आदि तथा अन्य तकनीकी शिक्षा से शिर्षित कर आज की शिक्षा का उद्देश्य परि-पूर्ण समझा जाता है । मानवता के गुण स्नातक में कितने आये हैं या आने चाहिये इसका आज की शिक्षा प्रणाली में कहीं उल्लेख नहीं है । स्कूल और कालेजों के छात्र अनेक बुराईयों के शिकार हो जाते हैं । जब पढ़ लिख-कर बाहर निकलते हैं तो उनके सामने अंधेरा ही अंधेरा रहता है । वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सर्वथा सदाचार का अभाव है । अतएव आज हमारे देश का वातावरण छात्र के उत्पात अनुशामनहीनता चरित्रहीनता आदि दोषों के कारण पूर्णरुपेण अशांत बन चुका है । सड़क पर चलती हुई लड़कियों के पीछे आज का नवयुवक ऐसे दौड़ता है जैसे बाघ शिकार पर । अनुशासनहीनता तो आज पराकाष्ठा तक पहुंच चुकी है । पिछले वर्ष मध्यप्रदेश में एक प्रधाना-चार्य को छात्रों ने गोली से इसलिये उड़ा दिया था कि वह परीक्षा में नकल करने को रोकता था । प्रिंसिपल का घर जलाना, प्रोफैसर की अंगुली काट देना यह सब दुर्घटनायें आज की शिक्षा प्रणाली की देन हैं । भारत की पार्लियामैन्ट तक सभी चिन्तत हैं क्या किया जाये वास्तव में ये शिक्षा प्रणाली तो उपाधि वितरण करने की मशीन आज हमें इस बात की आवश्यकता है कि ऐसी शिक्षा प्रणाली को अपनायें जो मानवीय गुणों को प्रदान कर सकें ।

०—०

सत्व रजस तमस बनाम प्रोटोन, एलैक्ट्रोन और न्यूट्रोन

जव हम इस देश में वैज्ञानिक संदर्भों के अति पुराकाल से विद्यमान होने की बात कहते हैं तो कुछ लोग उसका उपहास करते हैं। वैदिक विज्ञान बीजस्थ में था और मानव को चिंतन एवं परीक्षण द्वारा उस पर आगे खोज करने और प्राविधि (Technical) में बदलने का मार्ग खुला रखा गया था। अत: टैकनीक या औद्योगिक उपयोग का न पाया जाना विज्ञान के मूल्य सिद्धांतों की अनभिज्ञता तो प्रतिपादित नहीं करता। और अब तो वैदिक मंत्रों में सप्रमाण प्राविधि की माजूदगी पगे-२ सिद्ध हो रही है और उसका प्रमाण प्राचीन भारत की कलें, शस्त्र विज्ञान, रसायन, स्वर विज्ञान, वर्षा विज्ञान आदि हैं। पर यह बात लोग तब तक नहीं मानते जव तक कोई योरोपीय वैज्ञानिक या दार्शनिक स्वमुख से न कह दे।

योरोप के आस्ट्रिया देश के एक वैज्ञानिक प्रोफैसर प्रिटीजोफ कापरा का एक विज्ञापन हिन्दुस्तान टाइम्स दैनिक के दि० २६-२-८१ के अंक में छपा है :–

Pro. Capra, an atomatic physicist, from Austria, earnestly beleives that there are many parallels between aspects of physics and the Indian mythical traditions of yore. Modern scientists, he avers, should perceive and recognize these parallels as they have a great bearing on the future course of science and progress.

The western science and culture is going through a great transformation and the new world view will be very close to the traditional eastern view, he said It is wrong to dismiss the eastern mysticism as something nebulous and unscientific. On the other hand, it is, based on empirical experience, though, the whole approach may have been different.

ऐसा ही एक (Parallel) समानान्तर विवरण सत्व, रजस, तमस, द्वारा सृष्टि-निर्माण का है जो साँख्य शास्त्र में उपलब्ध है।

महर्षि कपिल प्रणीत व सांख्य-शास्त्र

पिता कर्दम और माता देवहूर्त से उत्पन्न कपिल सगर के समकालीन थे। सगर ब्रह्मा से २०वीं पीढ़ी में थे, जबकि ४०वीं में राम हुये थे। अतः त्रेता के प्रारंभ का उनका काल है। उनके दर्शन में प्रकृति और पुरुष के भेद को साक्षात माना है। उनका मुख्य सिद्धांत है "त्रिगुणादि विपर्ययात" अर्थात् प्रत्येक संघात त्रिगुणात्मक है। हां संघातक तथा जिसके लिये वह संघात है; त्रिगुणात्मक नहीं है।

"अधिष्ठान्नाचेति" सूत्र के अनुसार च से तात्पर्य है कि संघातकता के रूप में कोई अधिष्ठाता होता है जो निर्माण क्रिया प्रारम्भ करता है और इति पद इस हेतु की इस अर्थ में समाप्ति का दयोतक है कि यह संघातादि कार्य किसी के लिये हैं।

३·०० सांख्य-दर्शन के अनुसार पिंड और ब्रह्माण्ड का निर्माण :

अध्याय– १ के सूत्र ६१ में यह प्रक्रिया विवरण–सहित कही गई है
सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थ प्रकृतिः।
प्रकृतेर्महान्।
महतोऽहंकारः।
अहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभय भिन्द्रियम्।
पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।
पुरूषइतिपंचविंशतिर्गण।

सृष्टि की उत्पति के पूर्व प्रकृति में सत्व, रज, तम समान अनुपात में पर असंश्लिष्ट (Non-combined) स्थिति में थे। उनमें अधिष्ठाता के इंक्षण से हलचल पैदा की गई और उनका मिलन विभिन्न अनुपातों (Permutations) and combinations) में क्रमशः होने लगा।

३-१० पहिला परिवर्तित रूप महत् हुआ (Intillect)। इसके प्रथम छोर पर प्रधानता के कारण तीन प्रकार के महत् सृजित हुये।

३-११ सत्वप्रधान महत्-से समष्टि चित्त उपजाता है जो कि भिन्न-भिन्न जीवों में बंटकर उनमें सदगुण यथा संतोष, निरभिमान, धैर्य, व उत्साह प्रदान करता है।

३-१२ रजस प्रधान महत्-से समष्टि बुद्धि उत्पन्न होकर जीवमात्र में बंटती है और उनमें कर्म प्रवृत्ति, क्रियाशीलता, आसक्ति, मन्यु आदि मध्यम गुणों का सृजन करती है।

३-२० अहंकार भी तीन गुण वाला होता है और गुणानुसार १६ तत्वों को जन्म देता है :–

३-२१ सत्वप्रधान अहंकार-से मन उत्पन्न होता है।

३-२२ रजस प्रधान अहंकार-से समष्टि पांच ज्ञानेन्द्रियां (कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना व घ्राण (Sensory organs) तथा ५ कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हस्त, पाद, शिश्न तथा गुदा बनते हैं। (Motor organs)

३-२३ तमस् प्रधान अहंकार से पांच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं (शब्द, रस, स्पर्श रूप व गन्ध)। इनमें से प्रथम दो तो समष्टि से व्यक्तियों में वितरित होकर पिंड जीवों के उपयोग हेतु शरीर का निर्माण करती हैं। इन पर इस लेख में विचार नहीं करेंगे। क्योंकि आधुनिक विज्ञान पिंड निर्माण प्रक्रिया के किहीं निश्चित सिद्धांतों पर नहीं पहुंच पाया है। गर्भ में इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते हैं, विज्ञान नहीं जानता। इन गोलकों में अपनी-२ शक्ति (देखने, सुनने, बोलने, चखने आदि की) कब और कैसे आती है, और कब कैसे चली जाती है, विज्ञान कतई नहीं जानता। हां तीसरी पदयति (३-२३) अर्थात सृष्टि निर्माण पर अवश्य विज्ञान के निश्चित मत हैं। अतः सांख्य दर्शन आदि में सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया जैसी दर्शाई है, उस पर विचार करेंगे।

३-२३-उक्त सूत्र प्रतिस्थापित करता है कि इन पांच तन्मात्राओं से क्रमशः ५ स्थूल भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी) पैदा होते हैं। इनका निर्माण भी एक दूसरे से ही होता है। तैतिरीय अरण्यक में यह कहा गया है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अदभ्यः पृथ्वी।

पृथ्वीव्यां औंपधय: । औंपधि:योऽन्नन । अन्नादेत: । रेतस: पुरुप: । एवा एप पुरुपोंन्नरसमेय: ।

इस प्रकार पंच तन्मात्राओं से ५ भूत तथा इन पांच से सारी सृष्टि के अन्य पदार्थ बनते हैं । पर इस सबके मूल में जो सत, रजस व तम हैं, वे सांख्य कार के अनुसार गुण नहीं है । वे गुण-द्रव्य हैं, द्रव्याश्रित गुण नहीं । वे एक दूसरे की सहायता से अवयवों को उत्पन्न करते हैं ।

प्रीत्यप्रीति विषादात्मका, प्रकाश प्रवृत्ति नियमार्था ।
अन्योन्याभिभवाश्रय जनन मिथुनवृत्तयश्च गुणा ।। (सां० कारिका १२)

इनमें सत्व का प्रयोजन प्रकाश, रजस का प्रयोजन प्रवृत्ति और तमस का प्रयोजन नियमन है । इनमें से हरेक अन्य दो के साथ रहता है । केवल मात्रा बदलती रहती है । सत्व में प्रीति (Attraction), रजस अप्रीति (Requision) तथा तमस में गुरुता (भार) हैं । छान्दोग्य उपनिषद में इन्हें ही तेज, अप व अन्न कहा गया है ।

४-०० आधुनिक वैज्ञानिक मान्यता

सारी सृष्टि पहले ९२ तत्वों से बनी मानी जाती थी । यह तत्व बढ़ते-२ ११८ तक पहुंच गये । परस्पर आकर्षण शक्ति को (Valency) कहते हैं । और (Valency) क्रमश: १,२,३,४,५ के अनुसार मैन्डलीफ ने अपने चार्ट में इन्हें दर्शाया है । उसे (Periodic Table) कहते हैं । पर बाद में १८९२ में एटम को तोड़ने में वैज्ञानिक सफल हो गये और तब पाया कि स्थूल तत्व तो सूक्ष्म ३ शक्तियों से निर्मित है :–

इसके मध्य में इसका (Neucleus) है । न्यूकलियस (Neucleus) के चारों ओर (Electrons) अबाधगति से बहुत तेज गति से घूम रहे हैं । इस गति के कारण ही यह न्यूकलियस की ओर आकर्षित रहता है । न्यूकलियस का अर्थ क्रिया का केन्द्र है । यह केन्द्र भी दो प्रकार के गुणों का है :–

(Proton) प्रोटोन अर्थात जो धन विद्युतमय है तथा (Neutron) न्यूटोन जो विद्युत हीन है । यह न्यूकलियस ही तेज है । न्यूकलियस में भार होता है । प्रोटोन आकार में छोटा होता हुआ भी इलेक्ट्रोन से [illegible] गुणा

अधिक (grairtation) आकर्षण शक्ति रखता है। इलैक्ट्रोन भार रहित है और ऋण विद्युत भय होता है। धन और ऋण विद्युत के परस्पर आकर्षण से उनका जुड़वां रूप अणु (Atom) के सुसंगठित रूप में प्रगट होता है।

यह दो एक उदाहरणों से स्पष्ट होगा। हाइड्रोजन के न्युकलियस में। धन विद्युत है तथा उसके चारों ओर एक इलैक्ट्रोन घूमता है। उसकी वैलेन्सी एक है। उसका एटोमिक भार है।

सोना मैन्डलीफ टैविल में ७९ क्रम पर है। इसका अटामिक भार १९७ है। इसमें ७९ प्रोटोन (धन विद्युत) हैं तथा ११८ न्यूट्रोन (विद्युत हीन)। इसमें स्वाभाविक रूप से ७९ इलैक्ट्रोन हैं।

किसी तत्व में वम्बार्डमैन्ट से यदि इलैक्ट्रोनों की संख्या घटा बढ़ा दें, तो दूसरा पदार्थ पैदा हो जायेगा। इस पद्धति से हाइड्रोजन से हीलियम बना लिया गया है।

अब हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि गतिमान होने से इलैक्ट्रोन ही रजस है और इसका विपरीत होने से प्रोटोन तमस है तथा न्यूट्रोन ही सत्व है। इन तीन से ही पृथ्वी के सारे पदार्थ क्रमशः बनते हैं। प्रोफैसर कापरा ने इसी समता की ओर संकेत किया है।

(डा० रामेश्वर दयाल गुप्त, एम०ए०पी०एच०डी०,
आर्य नगर ज्वालापुर)

— o —

मन्त्र महर्षि दयानन्द भाष्य ।

३३ सत्यार्थ० समु० ३ पृ० ५८

३४ कुमाराः पुरुषशालां कुमार्य्यश्च स्त्रीशालां गत्वा ब्रह्मचर्यविधाय विद्याः पाकविधिं च गृह्णीयुः ११-५६ ।

३५ स०पु० समु० ३, पृ० ५८

३६ माहिर्भुर्मा पृदाकुः ।। यजु० ६० १२ भावार्थ०

३७ यजु० ६-१५ यत्तेक्रूरः तत्ते निष्ट्यायताम् ।।

३८ आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्पकरसुजम् । यथेह पुरुषो सत् ।। यजु० २-३३ का पदार्थ ।

३९ यजु० २०-२० भावार्थ

४० द्र० २३-४४ भावार्थ

४१ वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धाभि चक्षुस्ते शुन्धाभि श्रोतं ते शुन्धाभि नाभि तेशुन्धाभि मेंढ्र ते शुन्धाभि पायुं ते शुन्धाभि चारित्रांस्ते शुन्धाभि ।। यजु० ६-१४

४२ भद्रं कर्णाभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।। यजु० २५-२१

४३ परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्व मा चरिते भज ।। यजु० ४-२८

४४ यजु० ६-१७

४५ द्र० यजु० ११-३८ भा०, अविद्याकी निवृत्ति के लिए यजु० ६-८पृ०, १५-२४ भा०, २०-१८, ६१, ६२ भी द्रष्टव्य है ।

४६ यजु० २१-५४ पृ० ।

४७ यजु० २३-१५-१६-२०-२०, १५-४३ तथा २०-५७ ।

४८ द्र० सत्यार्थ प० समु० ३

४९ यजु० ७-१

५० २५-२ यजु०

५१ द्र० २८-३० यजु०

५२ यजु० ३४-५३, ७-१३

५३ यजु० १५-४४ सत्या० समु० ३

५४ सत्यार्थ समु० ३ पृ० ४७

५५ वही समु० ३ पृ० ६२

५६ द्र० संस्कारविधि

67-67

वेदों में शरीर विज्ञान

हमारी वैदिक संस्कृति के आधारभूत स्तम्भ वेद हैं। इनमें वर्णित उपासना पद्धति से लेकर आज वैज्ञानिक युग जिस स्थान पर पहुंचा है उन सब का आदि मूल स्रोत वेदों में विद्यमान है। चाहे वह चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान हो या फिर उड्डयन सम्बन्धी विज्ञान या अन्य कोई विज्ञान। जीवनरूपी इस नैय्या को चलाने के लिए जिन पतवार इत्यादि उपकरणों की आवश्यकता होती है। उन सबका मार्गदर्शन वेदों में प्राप्त होता है। जिनमें कुछ का मार्गदर्शन वेदों में प्राप्त होता है। जिनमें कुछ का संक्षेप में तथा कुछ का विस्तार रूप में वर्णन मिलता है।

आयुर्वेद को वेद का उपवेद माना गया है क्योंकि अथर्ववेद व ऋग्वेद में आयुर्वेद का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। और इसकी मनुष्य को पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए आवश्यक भी है। क्योंकि कहा भी है :-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगस्तस्यापहर्त्तारि: श्रेयसो जीवितस्य च।

चरक सूत्र स्थान

अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो में जीवन के चार उद्देश्य हैं। उनकी प्राप्ति के लिए मनुष्यों को आरोग्यता की महती आवश्यकता पड़ती है।

शरीरविज्ञान को जानने के लिए हमें शरीर की परिभाषा मालूम होनी चाहिए शरीर शब्द की व्युत्पति इस प्रकार है :- "शीर्यते इति शरीरम्।"

अर्थात् विभिन्न अग्नियों द्वारा पाक होने के कारण तथा कालवश जिसका निरन्तर नाश हुआ करता है उसे शरीर कहते हैं।

इसके साथ ही साथ यह शरीर पंचमहाभूत और उनके विकारों से तथा चेतना का अधिष्ठानभूत आत्मा के संयोग से बना है। इसी को षाण्धातुक पुरुष अर्थात् चिकित्स्य पुरुष कहा जाता है। आयुर्वेद में हम इसी शरीर की

चिकित्सा करते हैं। शरीर की परिभाषा बताते हुए महर्षि चरक ने कहा है कि :-

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकम्
चरक शा० ६।४.

आयुर्वेद की सम्पूर्ण चिकित्सा त्रिदोष अर्थात् वात, पित, कफ पर आधारित है। इन दोषों की अशांशकल्पना द्वारा ही हम पांचभौतिक शरीर की चिकित्सा करते है। त्रिदोष के अन्तर्गत हम शरीर की प्राकृतिक क्रियायें एवं रोगावस्था में जो विपर्यय उत्पन्न होता है उसका हम अध्ययन करते हैं। अतः हम त्रिदोष को आयुर्वेद की चिकित्सा का मूल सिद्धांत मान सकते हैं क्योंकि जब हम दोषों की क्षय अथवा वृद्धि की जानकारी प्राप्त कर लेंगे तो तदनुसार ही आयुर्वेद के सर्वमान्य निम्न सिद्धांत का परिपालन कर सकेंगे। :-

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं ह्रासहेतुविशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु।"

चरक सूत्रस्थान

अर्थात् जिस दोष की कमी हो तो उस दोष के समान गुण धर्म वाली औषधियों का रोगी को सेवन कराकर उस दोष की क्षतिपूर्ति की जा सकती है और उसके विपरीत गुण वाले आहार-विहार का सेवन कराकर बढ़े हुए दोष को कम किया जा सकता है। इसी प्रकार हमारे शरीर में सात धातुएं रस, रक्त मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, और शुक्र पायी जाती हैं। इनके भी क्षय और वृद्धि में उपरोक्त नियम के परिपालन द्वारा शरीर को ठीक रखा जा सकता है। दोषों तथा सप्त प्रकृतियों के विषय में अथर्ववेद का पहला ही मंत्र है जिसमें "त्रिसप्ताः" शब्द के द्वारा त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) या त्रिगुण (सत्व, रज, तम) और दोषानुसार सात प्रकृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस मंत्र में आयुर्वेद के प्रारम्भिक सिद्धान्त की झलक मिलती है। यह मंत्र निम्न प्रकार है :-

"ओ३म् ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु में ॥ अथर्ववेद काण्ड १। सूक्त १। म० १।

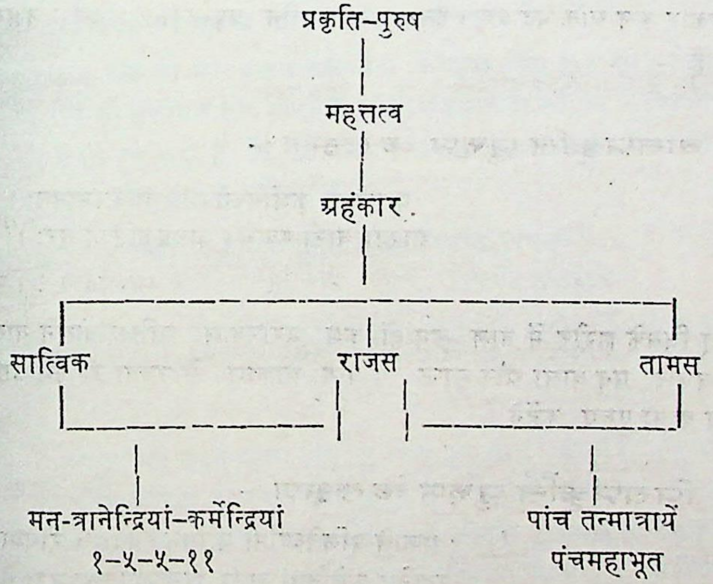
(ये) जो (त्रिसप्ताः) तीन दोष, या त्रिगुण तथा सात प्रकृतियां (वश्वा) समस्त (रूपाणि) चेतन अचेतन पदार्थों को (बिभ्रत्वः) धारण करते हुए (परियन्ति)

घूम रहे हैं। (वाचः) वाणी का (पतिः) पालक (तेषां) उनके (बला) बलों को (अद्य) आज (मे तन्वः) मेरे शरीर में (दधातु) धारण करावें॥

त्रिसप्ता :

उपरोक्त मंत्र में आये हुए "त्रिसप्ताः" का अर्थ हम विस्तृत रूप में कर रहे हैं। त्रिसप्ता से तात्पर्य तीन और सात से है। अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति में सहायक तीन तत्व सात्विक, राजस और तामस जो अहंकार के तीन भेद हैं। सप्ताः में सात दोषानुसार प्रकृतियों का ग्रहण कर सकते हैं।

सांख्यदर्शन में सृष्टि की उत्पति इस प्रकार बतलाई है कि गुणात्मक प्रकृति और पुरुष के संयोग से महत्तत्व की उत्पति हुई महत्तत्व से अहंकार और अहंकार से स्पष्ट रूप से तीन भागों में बंट जाता है। सात्विक, राजस और तामस। अब सात्विक अहंकार से राजस की सहायता से मन ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हुई तथा तामस अहंकार और राजस की सहायता से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न हुयीं।



"त्रि" शब्द से वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों का भी ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि त्रिदोष भी शरीर के आधारभूत स्तम्भ हैं। इनके बिना भी

शरीर की गाड़ी नहीं चल सकती है। इन तीन दोषों में भी वात दोष की प्रधानता स्वीकार की गयी है। कहा भी है :-

पित्तं पंगु कफः पंगु पंगवो मलधातवः
वायुना यत्र मीयन्ते गच्छन्ति तत्र मेघवत् ॥

अर्थात् वायु दोष के बिना पित्त भी पंगु है और कफ भी पंगु है क्योंकि जिस प्रकार वायु बादलों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है उसी प्रकार वात दोष भी कफ व पित्त को गति प्रदान करता है।

त्रिदोष के आधार पर मनुष्य की प्रकृतियों को भी सात भागों में बांटा गया है। इसीलिए मन्त्र में त्रिसप्ता का प्रयोग किया गया है। इन सात प्रकृतियों के विषय में सुश्रुत ने बताया है कि :-

"सप्त प्रकृतियों भवन्ति-दोषैः पृथक् द्विषः समस्तैश्च।" सुश्रुत शा० ४। ६२

अर्थात् पृथक्-पृथक् दोषों से तीन-वातल, पित्तल, श्लेष्मल संसृष्ट दोषों से तीन-वातापित्तल, वातश्लेष्मल, पित्तश्लेष्मल। समस्त दोषों से एक-वातपित्तश्लेष्मल। इस प्रकार कुल सात भेद हुए। इनमें मुख्यतः तीन प्रकृतियां हैं जिनके लक्षण निम्न हैं :-

१- वातप्रकृति पुरुष के लक्षण :-

"अल्पकेशः कृशोरूक्षोवाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः।"
शा०पू० । ६ । २१

अर्थात् जिसके शरीर में बाल कम हों, कृश शरीरवाला, अधिक बोलने वाला तथा चंचल मन वाला और स्वप्न में प्रायः आकाश में उड़ता हो उसे वात-प्रकृति वाला पुरुष कहेंगे।

२- पित्तप्रकृति पुरुष के लक्षण :-

"अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमान् स्वेदी च रोषणः।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः ॥"
शा०पू० ६।२२

अर्थात् बिना समय के बाल पक जाना, बुद्धिमान, अधिक पसीना आना

तथा क्रोधी स्वभाववाला और स्वप्न में सूर्य, आग आदि देखने वाला व्यक्ति पित्त प्रकृति वाला कहलाता है।

कफ प्रकृति पुरुष के लक्षण :-

"गम्भीरबुद्धिस्थूलांगः स्निग्धकेशोमहाबलः।
स्वप्ने जलाशयलोकी कफप्रकृतिको नरः॥"
शा० पू० ६।२३

अर्थात् कफ प्रकृति वाले पुरुष की बुद्धि गम्भीर, अंग स्थूल, केश स्निग्ध तथा स्वप्न में प्रायः जलाशय नदियां आदि देखता है।

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर हम विभिन्न प्रकृतियों वाले पुरुषों की पहचान कर सकते हैं और तदनुसार उनकी चिकित्सा का भी निर्धारण कर सकते हैं क्योंकि मनुष्य की प्रकृति का निर्धारण कर लेने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि यह औषधि इस व्यक्ति को लाभ पहुंचायेगी और यह हानि।

अथर्ववेद में क्षय रोग का वर्णन :-

क्षय रोग का भी वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है। आज जिस प्रकार क्षय रोग को संक्रामक रोग मानते हैं। इसी संक्रामकता को वेद में विज्ञान सम्मत सिद्ध करते हुए कहा है कि यह उड़कर लगने वाला रोग है। अथर्ववेद में इसे पंख वाला रोग कहा है। लिखा है कि :-

"पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति-पुरुषम्"
अथर्व० ६।७६।४

अर्थात् पंखों वाला यह रोग उड़ता है तथा मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

वस्तुतः यह उड़ने वाला विषाणु जिसे हम आज की वैज्ञानिक परिभाषा में माइकोबैक्टीरिया टुबरकुलोसिस कहते हैं। जिसकी सर्वप्रथम खोज जर्मनी के राबट काक ने की और जिसके लिए उन्हें नोवल पुरस्कार से अलंकृत किया गया। अतः इस रोग को काक्स के नाम से पुकारा जाता है। इस विषाणु का संक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में वायु में उड़कर विन्दुत्क्षेप संक्रमण द्वारा होता है।

अन्त में यजुर्वेद के निम्न मंत्र में मनुष्य को स्वस्थ रहते हुए इंद्रियों के कार्य सौ वर्ष तक ठीक चलते रहें इसकी कामना की गई है।

"ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतं शृणयाम शरद; प्र ब्रवाम शरद; शतमदीना; स्याम शरद: शतं भूयश्च शरद; शतात् ॥

यजुर्वेद ३६।२४

(तत्) वह (देवहितम्) विद्वानों का हितकारक, (पुरस्तात्) सर्वज्ञ समक्ष (शुक्रम्) शीघ्र कार्य करने में कुशल एवं तेजस्वी (चक्षु:) आंख के समान सबका निरीक्षक होकर (उत् चरत्) उत्ता पद पर विराजे। वैसे ही परमेश्वर भी (पुरस्तात्) पूर्वकाल से ही शुद्ध सर्वज्ञ देवों विद्वानों का हितकारी (उते चरत्) सबसे उच्च है। वह सर्वद्रष्टा, सबको आंख के समान पदार्थ निदर्शक रहकर शुद्ध तेज प्रदान करता है। उसी के प्रताप से हम (शरद: शतम्) सौ वर्षों तक (पश्येम) देखें। (शरद: शतं शृणुयाम) सौ वर्षों तक श्रवण करें। (शरद: शतं-प्रब्रवाम) सौ वर्षों तक दीनता रहित होकर रहें। (शरद; शतात् भूयश्च) और सौ वर्षों से भी अधिक वर्षों तक हम देखें, जीवें, सुने, बोलें और अदीन होकर रहें ॥

लेखक :- डा० वेदप्रकाश शास्त्री
बी०ए०एम०एस० (आयुर्वेदाचार्य),
साहित्याचार्य,
शरीर क्रिया विभाग
राजकीय आयुर्वेदिक कालेज गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार

०—०

अन्त में यजुर्वेद के निम्न मंत्र में मनुष्य को स्वस्थ रहते हुए इंद्रियों के कार्य सौ वर्ष तक ठीक चलते रहें इसकी कामना की गई है ।

"ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरद; प्र ब्रवाम शरद; शतमदीना; स्याम शरदः शतं भूयश्च शरद; शतात् ॥

यजुर्वेद ३६।२४

(तत्) वह (देवहितम्) विद्वानों का हितकारक, (पुरस्तात्) सर्वज्ञ समक्ष (शुक्रम्) शीघ्र कार्य करने में कुशल एवं तेजस्वी (चक्षुः) आंख के समान सबका निरीक्षक होकर (उत् चरत्) उत्ता पद पर विराजे। वैसे ही परमेश्वर भी (पुरस्तात्) पूर्वकाल से ही शुद्ध सर्वज्ञ देवों विद्वानों का हितकारी (उते चरत्) सबसे उच्च है। वह सर्वद्रष्टा, सबको आंख के समान पदार्थ निदर्शक रहकर शुद्ध तेज प्रदान करता है। उसी के प्रताप से हम (शरदः शतम्) सौ वर्षों तक (पश्येम) देखें। (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्षों तक श्रवण करें। (शरदः शतं-प्रब्रवाम) सौ वर्षों तक दीनता रहित होकर रहें। (शरद; शतात् भूयश्च) और सौ वर्षों से भी अधिक वर्षों तक हम देखें, जीवें, सुनें, बोलें और अदीन होकर रहें ॥

लेखक :- डा० वेदप्रकाश शास्त्री
बी०ए०एम०एस० (आयुर्वेदाचार्य),
साहित्याचार्य,
शरीर क्रिया विभाग
राजकीय आयुर्वेदिक कालेज गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार

०—०

वैदिक शिक्षा राष्ट्रीय कार्यशाला
शोध-पत्र एवं लेखों का
संकलन

1993

आचार्य प्रियव्रत जी की वेदसाधना का सार 'वेदों की वैज्ञानिकता' (महर्षि दयानन्द के वेद तथा वैदिक धर्म सम्बन्धी विचार)

—प्रो० सुभाष विद्यालंकार, कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के वेदानुशीलन का प्रयत्न राजनीतिक दुरभि-सन्धि से प्रेरित रहा है। मैक्समूलर के पत्रों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनका वेदभाष्य भारत के उन लाखों लोगों की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करने वाला था, जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं तथा जिनके मूलधर्म और विश्ववारा संस्कृति की स्पष्ट छाप उस ज्ञान में विद्यमान है। भारतीय विद्वानों में भी सायण और शंकर वेदों के यज्ञपरक तथा ज्ञानपरक अर्थ करते हैं पर जीवन का समग्र संदर्भ वेदों में नहीं देखते। डा० राय जैसे आधुनिक पाश्चात्य चिन्तक यदि तटस्थ होकर वेदानुशीलन में प्रवृत्त होते भी हैं तो वे वेदार्थ करने के लिए ऐतिहासिक आधार से आगे नहीं बढ़ पाते। इसी तरह के पूर्वाग्रहग्रस्त अध्ययनों का ही परिणाम था कि ग्रिफिथ जैसे लोगों ने वेदों के कुछ सूक्तों को इण्डोयूरोपियन बताते हुए उन्हें आर्यों के भारत में बसने से पूर्व की स्थिति का परिचायक कहा तथा वेद की भाषा को अर्धविकसित बताते हुए भारतेतर देशों की परम्पराओं, धार्मिक अवधारणाओं और भाषाविषयक विशेषताओं के तुलनात्मक अध्ययन की बात उठाई। उनकी दृष्टि में मंत्र देवता, ऋषि, मंत्राथ सब कुछ सामान्य और साधारण थे। अथर्व को तो इन लोगों ने जादू-टोने और इन्द्रजाल का पिटारा ही घोषित कर दिया था। विन्टर-नित्ज की यह प्रतिक्रिया कितनी हास्यास्पद है कि उत्तरी अमेरिका के भारतीयों, अफ्रीका के नीग्रो एव मलाया और मंगोल के मध्य, प्राचीन ग्रीक और रोम के बीच और आधुनिक काल के यूरोपियन किसानों के मध्य हम ठीक वही विचार और आश्चर्यजनक जादूभरे गाने और मंत्रजाल की क्रिया पाते हैं, जिस रूप में प्राचीनकाल के अथर्ववेद में उल्लिखित हैं। आर्य-अनार्य संघर्ष की कल्पना भी इन्हीं लोगों की देन है। कहना यह कि पाश्चात्य विद्वानों का वेदानुशीलन उपनिवेशवादी, गुलाम बनाने की दिशा में सोचा समझा हुआ कदम था। महर्षि दयानन्द ने इन विद्वानों के षड्यन्त्र को भांप लिया था। उन्होंने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान तथा वैदिक धर्म को शाश्वत, सार्वजनीन तथा वैज्ञानिक सिद्ध कर भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण का शंखनाद किया। उन्होंने नयी सूझबूझ और तात्विक प्रणाली का सहारा लेकर वैदिक धर्म एवं वेद के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन किया। आत्महीन

भारत को स्वाधीन चिन्तन का दर्प दयानन्द ने दिया। उन्होंने बचाव की नहीं, आक्रामक मुद्रा धारण की। उन्होंने कहा कि वेद को छोड़कर कोई अन्य धर्मग्रन्थ प्रमाण नहीं। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है तथा उसका पढ़ना-पढ़ाना परम धर्म है। मादाम ब्लेवास्की ने तभी कहा था कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। उनके वेदभाष्य ने लोगों के हृदय में ऋषि-मुनियों और वेदों के लिए प्रचण्ड उत्साह और श्रद्धा की ज्योति जला दी। भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक पराधीनता की शृंखलाओं को तोड़ने में महर्षि दयानन्द की वैचारिक आँधी ने ही गाँधी को खड़ा किया। तकनीकी, वैज्ञानिक और मानविकी के विभिन्न विषयों के मूलरूप की जो खोज अब भारतीय विद्वान् करने लगे हैं, उसका सम्पूर्ण श्रेय महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य और वेदार्थ शैली को जाता है। इस प्रकार सहज ही समझा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द के वेद तथा वैदिक धर्म सम्बन्धी विचार कितने क्रान्तिकारी, मौलिक, प्रेरक और विश्वजनोपयोगी हैं।

महर्षि के वेद तथा धर्म सम्बन्धी विचारों का एकत्र तथ्याश्रित तथा तत्वमूलक विवेचन-विश्लेषण का कार्य प्रायः विरल ही मिलता है। हर्ष का विषय है कि वेदों के उद्भट विद्वान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व वेद विभागाध्यक्ष, आचार्य एवं उप-कुलपति तथा सम्प्रति परिद्रष्टा आचार्य पण्डित प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने 'महर्षि दयानन्द के वेद तथा वैदिक धर्म सम्बन्धी विचार' शीर्षक शोधसंवलित ग्रन्थ लिखकर इस कार्य को पूर्ण गरिमा के साथ सम्पन्न किया है। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की अध्ययनशैली और अध्ययनगत निष्कर्षों का सूक्ष्म परीक्षण-विवेचन कर उनकी असारता, अवैज्ञानिकता तथा जड़ता का उद्घाटन किया है तथा महर्षि दयानन्द के वेद-विषयक विचारों का तटस्थ सांगोपांग विवेचन कर व्यापक फलक पर उनकी सार्वभौम प्रतिष्ठा का उपक्रम किया है। सरल तथा भावगम्य शैली में जटिल से जटिल विषयों का निरूपण, तत्वाश्रित तथा तथ्यमूलक विश्लेषणप्रणाली और तर्कग्राह्य व्याख्या का निर्दुष्ट प्रतिफलन इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। यह केन्द्र और विश्वविद्यालय के लिए गौरव की बात है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ महर्षि दयानन्द के वेदविषयक विचारों की जानकारी के लिए विश्वकोश जैसा कार्य करेगा, भारतीय विद्याओं के विद्वानों तथा सहृदय पाठकों में लोकप्रिय होगा तथा परम्परित और आधुनिक दृष्टियों के संतुलित अध्ययन को प्रेरित करेगा। इस अपूर्व ग्रन्थ के प्रकाशन से मैं गौरवमिश्रित हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह आचार्यश्री को शतायु प्रदान करें तथा आचार्यश्री की लेखनी का दिव्य प्रसाद श्रुतिसेवियों को सतत प्राप्त होता रहे।

————

राजधर्म सांगोपांग, निर्दोष, हितकर तथा सर्वसुखकारी है। आचार्य प्रियव्रत भारतीय राजनीतिशास्त्र के प्रणेताओं में 'वैदिक राजनीतिशास्त्र' के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। उन्होंने वेद मन्त्रों के अनुसार उन राजनीतिक तत्वों की खोज की है जिन्हें पाश्चात्य राजशास्त्र की मौलिक देन समझा जाता है। इस उत्तम ग्रन्थ के लिए आचार्य जी सम्मान के पात्र हैं। आचार्य जी वेदों के उद्भट विद्वान् हैं। उनका सारा जीवन वेदों के स्वाध्याय तथा अध्ययन-मनन में व्यतीत हुआ है। अतः उनके निष्कर्षों पर संदेह नहीं किया जा सकता। वह चाहे गुरुकुल के स्नातक रहे हों, या आचार्य तथा वेदविभागाध्यक्ष अथवा कुलपति, उन्होंने वैदिक ग्रन्थ के स्वाध्याय का अखण्डव्रत का निष्ठा और तपस्या के साथ पालन किया है। इस अद्भुत मनीषा के धनी का यह अवदान वैदिक वाङ्मय के अनुसन्धान की दिशा में चिरस्मरणीय रहेगा। वेद मन्त्रों के तिल-तिल परिचय से जिस प्रामाणिक सामग्री का विवेचन-विश्लेषण आचार्य जी ने इस ग्रन्थ में किया है, वह उतनी ही ठोस और आधिकारिक है जितने ऐतिहासिक अभिलेख और साक्ष्य होते हैं। आशा है वैदिक साहित्य का नवीन दृष्टि से अध्ययन-अनुसन्धान करने वाले इस ग्रन्थ से भरपूर लाभ उठायेंगे। पुराविद्याओं तथा मानविकी के अनुसन्धाताओं का पुस्तकालय तथा संग्रहालय इस रचना के विना अपूर्ण रहेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

——

आचार्य प्रियव्रत की अभिनव विचारोत्तेजक कृति

वेद और उसकी वैज्ञानिकता

(भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में)

(विश्वविद्यालय के श्रद्धानन्द शोध प्रकाशन केन्द्र से प्रकाशित होने जा रही आचार्य जी की अभिनव शोधसंवलित कृति 'वेद और उसकी वैज्ञानिकता' का परिचय पाठकों को दिया जा रहा है। —सम्पादक)

वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति वेद और वैदिक साहित्य के एक गम्भीर चिन्तनशील अध्येता हैं। वेद में निहित तत्त्वों का वे सूक्ष्म, गवेषणात्मक और मौलिक रीति से अध्ययन और उद्घाटन करते हैं तथा अपने ग्रन्थों द्वारा सरल, स्पष्ट और सुबोध भाषा में उन तत्त्वों को सर्वसाधारण पाठकों तक पहुँचाते हैं जिन्हें पढ़ कर पाठक अनुभव करने लगता है कि वेद साधारण कोटि के ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत वे बड़े उदात्त, गम्भीर और कल्याणप्रद विचारों से भरे हुए ग्रन्थ हैं। वरुण की नौका, वेद का राष्ट्रिय गीत, वेदोद्यान के चुने हुए फूल, मेरा धर्म, वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, वैदिक अर्थव्यवस्था, और समाज का कायाकल्प आदि आचार्य प्रियव्रत जी के सभी ग्रन्थ इसी प्रकार की रचनायें हैं। सामान्य पाठक और विद्वत्समाज ने समान रूप से आचार्य जी के इन ग्रन्थों की प्रशंसा की है। आपका अभी-अभी प्रकाशित "वेद और उसकी वैज्ञानिकता" (भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में) ग्रन्थ भी उसी श्रेणी का चिन्तन और गवेषणापूर्ण ग्रन्थ है।

भारतीय आर्य परम्परा की चिरन्तन मान्यता रही है कि जगत् के विधाता और नियन्ता परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मानव के चर्मचक्षुओं को सहायता देने के लिये जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशपुँज पिण्डों की रचना कर दी थी उसी प्रकार उस की बुद्धि और मन की आँखों को सहायता देने के लिये प्रभु ने भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों के पुँज वेद का उपदेश भी कर दिया था। मनुष्य अपनी आँखों को खोल कर चले, सूर्य के प्रकाश से सहायता ले, उसे पता लगता रहेगा कि गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए सीधा, सरल, साफ-सुथरा, काँटे-कटीले और झाड़ी-झखाड़ों से रहित मार्ग कौन-सा है। इसी प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि और मन की आँखों को खुला रखें, विचारपूर्वक वेद को पढ़े तो उसे जीवनोपयोगी विविध प्रकार का ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध होता रहेगा, उसे ज्ञात हो जायेगा कि उसके चारों ओर फैले पड़े प्राकृतिक विश्वप्रपंच का स्वरूप और प्रयोजन क्या है, विश्व

के रचयिता परमेश्वर का स्वरूप क्या है, और स्वयं उसके अपने आत्मा का, अपने "मैं" का स्वरूप क्या है ? वेद के विचारपूर्वक अध्ययन से मनुष्य को पता लगता रहेगा कि उसके अपने प्रति क्या कर्त्तव्य हैं, कुटुम्ब के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं, गुरुजनों के प्रति, पड़ोसियों के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने राज्य के प्रति, सारी धरती के मानवों और अन्य प्राणियों के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं ? वेद के स्वाध्याय से मनुष्य को यह भी बोध होता रहेगा कि उसके जीवन्-प्रदाता और जगत् के स्रष्टा परमात्मा के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं। वेद के द्वारा प्रभु ने मानव को भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों का उपदेश दिया है।

जहाँ प्रभु ने वेद के उपदेश द्वारा मानव को विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान सिखाये, वहाँ उन्होंने वेद की भाषा सिखा कर भाषा का ज्ञान भी दिया। मनुष्य अपने भाँति-भाँति के गुरुओं से नाना प्रकार का ज्ञान-विज्ञान और भाषायें बोलना सीखता है। आदि सृष्टि के मनुष्यों का कोई अन्य मनुष्य तो गुरु हो ही नहीं सकता था क्योंकि वह स्वयं आदिम मनुष्य था। आदिम मनुष्य का गुरु परमात्मा ही हो सकता है। इसीलिये भारतीय आर्य शास्त्रों में परमात्मा को गुरुओं का भी परम गुरु, आदि गुरु कहा गया है। वेद क्योंकि परमेश्वर द्वारा दिया गया ज्ञान है, इस कारण उसका कोई काल भी निश्चित नहीं हो सकता। वह तो परमात्मा की भाँति ही अनादि और नित्य है। प्रत्येक कल्प के आरम्भ में परमात्मा अपने इस ज्ञान को मानव को सिखाते रहते हैं। क्योंकि वेद परमात्मा का अनादि और नित्य ज्ञान है इसलिये उसमें किसी व्यक्ति विशेष का, किसी मनुष्य का, किसी प्रकार का कोई इतिहास या कहानी नहीं हो सकती, यह बात भी स्वतः सिद्ध है। और वेद क्योंकि परमात्मा द्वारा आदिम मनुष्य को दिया गया अपना ज्ञान है इसीलिये उसकी रचना करने वाला कोई ऋषि या अन्य मनुष्य नहीं हो सकता, यह बात भी स्पष्ट ही है।

वेदविषयक उपर्युक्त सभी मान्यतायें भारतीय आर्य परम्परा में सभी ऋषि-मुनियों, आचार्यों और चिन्तकों की रही हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, यास्क, व्यास, पतंजलि, गोतम, कणाद, शंकर, वाचस्पति मिश्र और उदयन आदि सभी ऋषि-मुनियों, आचार्यों और विचारकों की यही मान्यतायें रही हैं।

काल-चक्र में वेद का सही प्रकार से पठन-पाठन अवरुद्ध हो गया। वेद मनुष्य जीवनोपयोगी अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों का ग्रन्थ है, यह दृष्टि विलुप्त-सी हो गई। उसे याज्ञिक कर्म-काण्ड का ग्रन्थ समझा जाने लगा। वेद के प्रायः सभी मन्त्रों का स्रोत सूत्रकारों और विनियोगकारों ने किसी न किसी यज्ञ में विधान कर दिया। अनेक प्रकार के यज्ञ करने की परिपाटी चल पड़ी। अजमेध, अविमेध, अश्वमेध और गोमेध जैसे यज्ञ भी होने लगे जिनमें भेड़-बकरियों, घोड़ों और गौओं को मार कर उनके माँस से यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती थीं। और तो और नृ-मेध जैसे यज्ञ भी होने लगे जिनमें पुरुषों को मार कर उनके माँस से आहुतियाँ दी जाती थीं।

इस काल में पण्डितों ने वेदों पर जो भाष्य और टीकायें लिखी वे प्रायः सभी याज्ञिक कर्म-काण्ड के विधि-विधानों से भरी पड़ी हैं। अनेक कहानियों और यज्ञों के प्रसंग में तो इन भाष्यकारों ने वेद मन्त्रों के इतने भद्दे और अश्लील अर्थ किए हैं कि उन्हें पढ़ कर लज्जा से सिर झुक जाता है। इन भाष्यकारों ने अनेक मन्त्रों के ऐसे अर्थ किए हैं जिन्हें पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि वेद विचित्र जादू-टोनों का ग्रन्थ है। आधुनिक काल में पाश्चात्य देशों में भी संस्कृत भाषा और उसके साहित्य को पढ़ने का उपक्रम आरम्भ हुआ। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को अपने अध्ययन और अनुशीलन का विषय बनाया। उन लोगों ने इस प्रसंग में सायणाचार्य और महीधर-उवट आदि के वेदभाष्य देखे। उनके भाष्यों को पढ़ कर इन पाश्चात्य विद्वानों पर वेदों के सम्बन्ध में बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा। वे लोग वेदों को अर्धशिक्षित, अशिक्षित, असभ्य लोगों की कवितायें और बड़बड़ाहट भरे ग्रन्थ कहने लगे। और भी न जाने कितनी उल-जलूल बातें वेद के सम्बन्ध में ये लोग कहने लगे। इन लोगों ने यह भी कहा कि आदिम मनुष्य को भाषा और ज्ञान सिखाने वाले किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है, विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य शनैः-शनैः कालक्रम में भाषा और ज्ञान का आविष्कार स्वयं ही कर लेता है। इन लोगों के वेदों पर लिखे गए ग्रन्थों और आलोचनाओं को पढ़ कर नवशिक्षित भारतीयों के विचार भी इसी प्रकार के बनने लगे और वे भी वेद को एक बहुत निम्नकोटि का और उपेक्षणीय ग्रन्थ समझने लगे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद के सम्बन्ध में खड़े किये गये इस प्रकार के भ्रामक आन्दोलन के काल में, जिसकी जड़ में सायणाचार्य और महीधर-उवट आदि के भाष्य ही थे, ऋषि दयानन्द का भारतभूमि पर अवतरण हुआ। शिक्षा समाप्ति पर अपने गुरु दण्डी-स्वामी विरजानन्द को दक्षिणारूप में अपना सारा जीवन प्राचीन ऋषि-मुनियों की मान्यताओं के अनुसार आर्ष पद्धति के अनुसार वेद के स्वाध्याय और पठन-पाठन के प्रचार और प्रसार में खपा देने की प्रतिज्ञा करके स्वामी दयानन्द इस महत्त्वपूर्ण काम में जी-जान से जुट गये। इसके लिये उन्होंने मौखिक भाषण और ग्रन्थलेखन दोनों पद्धतियों का आश्रय लिया। उन्होंने आर्ष पद्धति से वेद का भाष्य किया और ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ प्रकाश जैसे निराले ग्रन्थ लिखे। अपने ग्रन्थों में ऋषि दयानन्द ने बड़े विस्तार से तर्क और प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है कि वेद के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय ऋषियों की जो मान्यतायें रही हैं, वे सर्वथा सही हैं। वेद प्रभु की वाणी है और वे नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों से भरे हुए हैं। उन्होंने मेघ-गम्भीर आवाज में घोषणा की कि वेद की हीनता दिखाने वाले सायण आदि के भाष्य सही नहीं हैं। उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के वेदविषयक विचारों को भी नितान्त अशुद्ध बताया और उनके विकासवाद पर आधारित तर्कों का भी बलपूर्वक खण्डन किया। वेदों का अध्ययन और तदनुसार आचरण प्राचीनकाल में भी मनुष्यों का कल्याण करता रहा है, आज के मनुष्यों का भी कल्याण कर रहा है और भविष्य में भी मनुष्यों का कल्याण करेगा।

"वेद और उसकी वैज्ञानिकता" ग्रन्थ में आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने ऋषि

दयानन्द द्वारा अपने ग्रन्थों में वेदविषयक जिन मान्यताओं का अपनी विशिष्ट शैली में प्रतिपादन किया है, जो मान्यतायें वस्तुतः प्राचीन ऋषि-मुनियों की मान्यतायें हैं, उनका आधुनिक शैली में गवेषणापूर्ण अध्ययन, विशदीकरण और समर्थन किया है।

इस ग्रन्थ के १५ अध्याय और २२१ खण्ड तथा उपखण्ड हैं। प्रथम अध्याय के ३१ खण्ड तथा उपखण्ड हैं। इस अध्याय का शीर्षक है—विषय-प्रवेश। अध्याय के प्रथम खण्ड में दिखाया गया है कि संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों में वेद का कैसी श्रद्धा और आदर के साथ उल्लेख किया गया है और उसे किस प्रकार भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का ग्रन्थ बताया गया है तथा वेद का भारतीय आर्यों की जीवन-पद्धति पर क्या प्रभाव रहा है। अध्याय के द्वितीय खण्ड में प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार प्राचीन ऋषि-मुनि वेद को सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को दिया गया विविध विद्या-विज्ञानों से पूर्ण ईश्वरीय ज्ञान का ग्रन्थ मानते रहे हैं। अध्याय के तृतीय खण्ड में दिखाया गया है कि ऋषि दयानन्द के आगमन के समय भारतवर्ष में वेद के पठन-पाठन की कैसी दुर्दशा थी और प्रसंग से दिखाया गया है कि उस समय कहीं-कहीं जो थोड़ा-बहुत वेद पढ़ा-पढ़ाया जाता था वह सायणाचार्य आदि के जिन भाष्यों के आधार पर पढ़ाया जाता था उन भाष्यों में वेद को कैसे मलिन रूप में प्रदर्शित किया गया है। उन भाष्यों में वेद को मुख्यतः विविध याज्ञिक विधि-विधानों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संग्रह-ग्रन्थ तथा ऐसा ग्रन्थ दिखाया गया है जिसके अनेक मन्त्रों में ऊट-पटाँग किस्से-कहानियाँ भरी पड़ी हैं, जिसके अनेक मन्त्र घोर अश्लीलता से भरे पड़े हैं तथा जिसके अनेक मन्त्र जादू-टोनों से भरे पड़े हैं। अध्याय के चतुर्थ खण्ड में पाश्चात्य विद्वानों की वेद-सम्बन्धी धारणा और मान्यताओं का उल्लेख किया गया है और दिखाया गया है कि ये लोग किस प्रकार वेद को एक अत्यन्त हीन कोटि का ग्रन्थ समझते थे और मूलतः इन लोगों का वेदों का अनुवाद करने और उन पर आलोचनायें तथा टीका-टिप्पणियाँ लिखने का उद्देश्य वेद को बाइबल से घटिया दिखा कर भारत में ईसाइयत का प्रचार करना था। अध्याय के पंचम खण्ड में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा बहुचर्चित विकासवाद की संक्षिप्त समीक्षा की गई है और इस सिद्धान्त की त्रुटियाँ दिखाई गई हैं तथा ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता प्रदर्शित की गई है। अध्याय के छठे खण्ड में ऋषि दयानन्द द्वारा वेद के पुनरुद्धार, प्रचार और प्रसार के लिये किए गए महान् कार्य का अतिसंक्षिप्त परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है — वेद और ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त। इस अध्याय के १४ खण्ड और उपखण्ड हैं। अध्याय के प्रथम खण्ड में सिद्ध किया गया है कि वेद अपौरुषेय है और ईश्वरीय ज्ञान है। प्रसंग से ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध की गई है। यदि ईश्वर ही न हो तो ईश्वरीय ज्ञान कहाँ से आयेगा? द्वितीय खण्ड में विस्तार से ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धान्त पर विचार किया गया है और सिद्ध किया गया है कि आदिम मनुष्य को ज्ञान और भाषा आदिगुरु ईश्वर ही सिखा सकता है। अध्याय के तृतीय खण्ड में प्रद-

शित किया गया है कि परमात्मा किस विधि से आदिम ऋषियों के मस्तिष्क में वेद की भाषा और ज्ञान का संचार या संक्रमण करते हैं। चतुर्थ खण्ड में विकासवाद के सिद्धान्त पर विस्तार से विचार किया गया है और इसकी त्रुटियाँ दिखाई गई हैं। क्योंकि विकासवाद के सिद्धान्त को ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धान्त का सबसे बड़ा विरोधी समझा जाता है।

तृतीय अध्याय के १३ खण्ड–उपखण्ड हैं। इस अध्याय का शीर्षक है — ईश्वरीय ज्ञान वेद। इस अध्याय में विचार किया गया है कि कौन-सा ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान हो सकता है। वेद की भाषा संसार की सबसे प्राचीन भाषा है, यह सिद्ध करते हुए अनेक युक्तियाँ देकर दिखाया गया है कि वस्तुतः वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है।

चतुर्थ अध्याय के भी १३ ही खण्ड और उपखण्ड हैं। इस अध्याय का शीर्षक "वेद का काल" है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुवर्ती भारतीय विद्वान् वेद का काल १२०० वर्ष ईसवी पूर्व से लेकर ४००० वर्ष ईसवी पूर्व तक मानते हैं। कुछ भारतीय विद्वान् ३००० ईसा पूर्व से लेकर २५०० वर्ष ईसा पूर्व तक भी मानते हैं। दो-एक भारतीय विद्वानों ने वेद का काल ईसा से अढ़ाई-तीन लाख वर्ष पूर्व तक भी माना है। भारतीय परम्परा में वेद का काल आदि सृष्टि माना जाता है। तदनुसार सन् १९९० ईसवी तक मानव सृष्टि को एक अरब, छियानवे करोड़, आठ लाख, तरेपन हजार, इक्यानवे (१,९६,०८,५३, ०९१) वर्ष हो चुके हैं। वेद को अर्वाचीन ग्रन्थ सिद्ध करने के लिये जो तर्क दिये जाते हैं, इस अध्याय में उनकी समीक्षा की गई है और दिखाया गया है कि वेद को किसी काल-विशेष का बना ग्रन्थ सिद्ध कर सकना असंभव है। नक्षत्रों की स्थिति को वेद का काल स्थिर करने में सबसे प्रबल और अकाट्य युक्ति समझा जाता है। इस युक्ति की असारता भी इस अध्याय में बड़े प्रबल रूप में दिखाई गई है।

पंचम अध्याय का शीर्षक — ऋषि दयानन्द की वेद-भाष्य शैली है। इस अध्याय के १४ खण्ड और उपखण्ड हैं। इसमें दयानन्द की वेद-भाष्य शैली तथा सायण और महीधर-उव्वट आदि भारतीय भाष्यकारों की वेद-भाष्य शैली एवं पाश्चात्य विद्वानों की वेद-भाष्य शैली की परस्पर तुलना और समीक्षा करते हुए ऋषि दयानन्द की भाष्य शैली की उत्कृष्टता सिद्ध की गई है और दिखाया गया है कि ऋषि दयानन्द की भाष्य शैली का अनुसरण करके ही वेद-मंत्रों के सही अर्थ और तात्पर्य को समझा जा सकता है।

छठे अध्याय का शीर्षक है — महर्षि दयानन्द और वेदार्थ की याज्ञिक प्रक्रिया। इस अध्याय के ७ (सात) खण्ड और उपखण्ड हैं। इस अध्याय में यह दिखाया गया है कि ऋषि दयानन्द प्रचलित याज्ञिक प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करते हैं जिसके अनुसार गौ आदि पशुओं को मार कर उनके माँस से यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं। ऋषि दयानन्द यज्ञ में पशु हिंसा को सर्वथा वेद विरुद्ध मानते हैं। वे तो जनता के कल्याणार्थ शिक्षणालयों की

स्थापना, मल-कारखाने खोलना, कृषि और व्यापार करना, उत्तम रीति से राज्य-संचालन करना आदि बातों को यज्ञ मानते हैं। इस अध्याय में उनकी इन्हीं मान्यताओं का विशदीकरण और समर्थन किया गया है।

अष्टम अध्याय का शीर्षक है — वेद के ऋषि। पाश्चात्य लेखकों और उनका अनुसरण करने वाले भारतीय लेखकों का मत है कि वेद के मन्त्र विभिन्न ऋषियों द्वारा बनाए गए हैं जिनके नाम वेद की मुद्रित पुस्तकों के सूक्तों के आरम्भ में लिखे रहते हैं। ऋषि दयानन्द की मान्यता है कि वेद परमात्मा की रचना हैं। सूक्तों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम लिखे रहते हैं उन्होंने तो कभी इन मन्त्रों और सूक्तों के भाष्य किए थे जिस की स्मृति में उनके ये नाम लिखे रहते हैं। इस अध्याय में ऋषि दयानन्द की इसी मान्यता की पुष्टि और समर्थन किया गया है कि ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के रचयिता नहीं हैं।

नवम अध्याय का शीर्षक है — वेदों का अपना स्वरूप। इस अध्याय के १६ खण्ड-उपखण्ड हैं। इस अध्याय में मुख्य रूप से दिखाया गया है कि वेदों की संख्या ३ नहीं ४ है। चारों वेदों में अथर्ववेद भी एक है और अर्वाचीन रचना नहीं है। शेष तीनों वेदों की भाँति ही प्राचीन है, ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं प्रत्युत वेदों के व्याख्या ग्रन्थ ही हैं। शाखाओं की रचना किस प्रकार हुई है इस पर भी इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। चारों वेदों के नाम क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। चारों वेदों की रचना मुख्यतः गायत्री आदि सात छन्दों में हुई है कुछ मन्त्रों की रचना अति-जगती आदि अन्य चौदह छन्दों में भी हुई है। चारों वेदों की मंत्र-संख्या कुल मिला कर बीस हजार तीन सौ उनासी (२०,३७९) है।

दशम अध्याय का शीर्षक है — वेद और इतिहास। इस अध्याय के १५ खण्ड और उपखण्ड हैं। इस अध्याय में यह दर्शाया गया है कि वेद में किसी व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष का इतिहास नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में मानव को दिए गए ईश्वरीय ज्ञान में इतिहास हो ही नहीं सकता। जैमिनि और यास्क आदि ऋषि-मुनि भी वेद में इतिहास नहीं मानते। सायण आदि ने अपने भाष्यों में वेद-मन्त्रों पर जो ऊट-पटांग और हास्यास्पद कहानियाँ थोप दी हैं, उन में से कुछ कहानियों का प्रत्याख्यान कर के भी दिखाया गया है।

एकादश अध्याय का शीर्षक है — वेद विविध ज्ञान-विज्ञानों का ग्रन्थ है। इस अध्याय के २१ खण्ड तथा उपखण्ड हैं। इस अध्याय में ऋषि दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद में वर्णित जिन ज्ञान-विज्ञानों का उल्लेख किया है उन की ओर संकेत करते हुए वेद में वर्णित २०-२१ अन्य विज्ञानों को भी दिखाया गया है। अध्याय के अन्त में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, श्री अरविन्द, डा. रेले और श्री कपाली शास्त्री आदि उन आधुनिक भारतीय विद्वानों के विचारों का उल्लेख भी किया गया है जो वेद में नाना ज्ञान-विज्ञानों का वर्णन है, ऐसा मानते हैं।

द्वादश अध्याय का शीर्षक है — वेद में जादू-टोने और अश्लीलता नहीं है। इस अध्याय के ८ खण्ड-उपखण्ड हैं। सायण आदि भाष्यकारों ने अनेक वेद-मन्त्रों को जादू-टोने और इन्हीं से संबद्ध कृत्या एवं अभिचारपरक तथा अश्लील अर्थ कर-कर के वेद को बड़ा हीन और हास्यास्पद कोटि का ग्रन्थ बना दिया है। इस अध्याय में इन मान्यताओं का निराकरण करते हुए जादू-टोने विषयक तथा अश्लीलार्थक समझे जाने वाले कुछ मन्त्रों का सही अर्थ भी प्रदर्शित किया गया है।

त्रयोदश अध्याय का शीर्षक है — वेद एक धर्मग्रन्थ के रूप में। इस अध्याय के २७ (सत्ताईस) खण्ड और उपखण्ड हैं। इस अध्याय में ऋषि दयानन्द ने वेद को जिस उच्चकोटि का धर्मग्रन्थ समझा है तथा जिस प्रकार उन्होंने वेद को ही अपनी सारी धार्मिक मान्यताओं का स्रोत बताया है, उसको प्रदर्शित किया गया है। ऋषि दयानन्द की अनेक धार्मिक मान्यताओं का उल्लेख करके दिखाया गया है कि वे किस प्रकार वेद-मन्त्रों से प्रस्तुत हो रही हैं।

चतुर्दश अध्याय का शीर्षक है — ऋषि दयानन्द की वेद-भाष्य शैली का परवर्ती विद्वानों पर प्रभाव। इस अध्याय के ८ खण्ड-उपखण्ड हैं। इस अध्याय में यह दिखाया गया है कि ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य शैली का प्रभाव किस प्रकार आर्य समाज से बाहर के विद्वानों पर भी पड़ा और वे भी वेद को उसी दृष्टिकोण से पढ़ने लगे और उसी शैली से वेदमन्त्रों के अर्थ करने लगे। ऐसे कुछ विद्वानों के नामों का उल्लेख भी किया गया है।

पंचदश अध्याय का शीर्षक है — वैदिक विचार-धारा को महर्षि दयानन्द की अभिनव देन। इस अध्याय के १२ उपखण्ड हैं जिनमें वैदिक विचार-धारा को ऋषि दयानन्द द्वारा दी गई एक-एक अति विशेष देन या विशिष्ट योगदान का उल्लेख है। यह सारा ग्रन्थ एक प्रकार से वस्तुतः वैदिक विचारधारा पर ऋषि दयानन्द द्वारा दिये गये इन्हीं बारह नये विचारों की विस्तृत व्याख्या मात्र है। यों इन विचारों के संकेत प्राचीन ऋषियों के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं, पर ऋषि दयानन्द ने इन विचारों पर जितना अधिक बल दिया है और जितना बलपूर्वक इन पर लिखा है और इन का प्रचार किया है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इसीलिये ग्रन्थलेखक ने इन्हें ऋषि दयानन्द के अभिनव विचार कहा है।

————

~~वेदमनीषी~~

~~आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति~~

~~मार्च~~ १९९१

जनसम्पर्क, संस्था प्रबन्ध एवं कानून की अनेक शाखाओं, विशेषकर प्रशासनिक विधि (एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ) में विशेष योग्यता और अनुभव प्राप्त किए।

त्याग-पत्र देने के पश्चात् उन्होंने कानून के क्षेत्र में कार्य करने का निश्चय किया और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त देश के प्रमुख विधिवेत्ता डा० लक्ष्मीमल सिंघवी के निर्देशन में देश के सर्वोच्च न्यायालय एवं दिल्ली उच्च न्यायालय में वकालत प्रारम्भ की। १६८५ में भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण (सेन्ट्रल एडमिनिस्ट्रेटिव ट्रिब्यूनल) स्थापित कर दिए जाने पर श्री विद्यालंकार ने प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त कीं।

वैदिक साहित्य, योग, दर्शन, संस्कृत-साहित्य, प्रशासनिक विधि, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, राष्ट्रीय घटनाओं तथा अध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में उनकी गहरी रुचि है। वैदिक साहित्य के प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने वेद प्रतिष्ठान के अधीन चारों वेदों का सरल अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना १६७५ में प्रारम्भ की थी। इस योजना के अधीन ऋग्वेद संहिता के १३ खण्ड प्रकाशित किये जा चुके हैं। इसके अधीन चारों वेदों का प्रकाशन ३० खण्डों में पूरा होगा। आर्य समाज के क्षेत्र में भी उनका योगदान उल्लेखनीय है। दिल्ली की प्रमुख आर्य समाज, हनुमान रोड के वे अनेक वर्षों तक मन्त्री और उप-प्रधान रहे हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने सदैव व्यक्तिगत रुचि ली है। दिल्ली में आर्य समाज की प्रमुख शिक्षा संस्था रघुमल आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के वे अनेक वर्षों तक अवैतनिक प्रबन्धक रहे हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की प्रमुख एवं प्राचीन शिक्षण संस्था मेरठ कालिज की प्रबन्ध समिति के वे आजीवन सदस्य हैं। वे मेरठ कालिज की कार्यकारिणी के भी अनेक वर्षों तक सदस्य रहे हैं। शिक्षा और आर्य समाज के क्षेत्र में उनके क्रियात्मक योगदान और रुचि को ध्यान में रखकर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने १६८८ में श्री सुभाष विद्यालंकार को इस विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् का सदस्य मनोनीत किया था।

-76

76

पर्यावरण संरक्षण आवश्यक क्यों ?

"पर्यावरण से हमारा तात्पर्य अपने या किसी भी जीव या जीवसमूह के बाहर विद्यमान परिवेश, समस्त वस्तुओं, पदार्थों एवं कारकों के समुच्चय या सम्मिश्रण से है, जैसे—जल, वायु पृथ्वी, धुआँ, ध्वनि, मोटर, रेल, वायुयान, जन्तु-वनस्पति, मनुष्य आदि।

मनुष्य के द्वारा की गई अनेक क्रियाओं के फलस्वरूप आज पर्यावरण में ऐसे परिवर्तन आ रहे हैं जो समस्त प्रकार के जीवन के लिये हानिकारक हैं। इस प्रकार हमारा पर्यावरण दूषित हो रहा है। इस समस्या की ओर आज पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

वर्तमान जगत की यह समस्या जो भयावह रूप से मानव सभ्यता को निगल जाने के लिये अपने पँजे बढ़ा रही है, प्रदूषण की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति की पर्यावरण के प्रति सहनशीलता की निश्चित सीमायें हैं और जब कोई कारक इन सीमाओं से अधिक मात्रा में उपस्थित होता है, उसे प्रदूषण कहते हैं। इससे निबटने के लिये, वातावरण में इस विष-वमन की प्रतिक्रिया को रोकने के लिये सभी देशों की सरकारें प्रयत्नशील हैं। इस विष को पीने के लिये भगवान शिव की तरह सबसे अधिक सफल माध्यम वृक्ष पाये गये हैं। इनकी पत्तियाँ वायु में मिले प्रदूषण पदार्थों के सूक्ष्म कणों को रोक और सोख लेती हैं। पत्थर के कोयले से उत्पन्न प्रदूषण रोकने के लिये "जंगल जलेबी" नामक वृक्ष का सघन रोपण बहुत लाभकारी पाया गया है। यह धुँए की सांद्रता में लगभग "२७ प्रतिशत" की कमी और सल्फर डाय-आक्साइड की सांद्रता में "८० प्रतिशत" की कमी करने में समर्थ पाया गया। शक्तिचालित वाहन, जैसे—कारें, ट्रक एवं बसें भी प्रदूषण के स्रोत हैं। यदि सड़कों और मकानों के बीच १० मीटर चौड़ी तथा ६ मीटर ऊँची हरित पट्टिका का विकास किया जाये तो मार्गों से आने वाले कार्बन मोनो आक्साइड की मात्रा में "४४ प्रतिशत" कमी हो जाती है।

वायु के समान जल भी प्रदूषण से मुक्त नहीं है। कारखानों से निकलने वाले नाना प्रकार के प्रदूषक पदार्थ नदियों में प्रवाहित किये जाते हैं। इसीलिये कानपुर के निकट गंगा और कलकत्ता के निकट हुगली नदी प्रदूषण का शिकार हैं। इस समय भारत के १३ नगर जल प्रदूषण से ग्रस्त हैं। कारखानों से निकलने वाले अनेक ट्रेस एलीमेंट नदी के जल में प्रवाहित हो जाते हैं जिनमें से कुछ पौधों और जन्तुओं में मेटाबोलिक एरर पैदा कर देते हैं जिससे कई प्रकार के रोग हो जाते हैं जैसे कैंसर, हृदय रोग, स्नायु रोग एवं पेट के रोग।

प्रदूषण के लिये प्राय: जनसंख्या को उत्तरदायी माना जाता है। बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति के लिये अधिक औद्योगीकरण किया जाता है जिससे प्रदूषण में वृद्धि होती है। किन्तु आज हम देखते हैं कि अनेक विकसित देशों में जनसंख्या कम होने पर भी प्रदूषण अधिक जनसंख्या वाले देशों की तुलना में अधिक है क्योंकि वहाँ प्रति व्यक्ति आवश्यकता अधिक है। अतः वास्तविक दोष तृष्णा का है। शायद इसीलिये हमारे वैदिक ऋषियों ने "इदन्नमम" को इतना महत्व दिया है।

वातावरण संरक्षण

प्रदूषण को कम करने के अतिरिक्त पौधों का वातावरण-संरक्षण में भी अत्यधिक महत्व है। वृक्षों का बेहिसाब काटा जाना, जंगल के जंगल साफ कर देना प्रकृति में असन्तुलन पैदा कर देता है! इसके दूरगामी परिणाम होते — भूमि का 'अपरदन' प्रारम्भ हो जाता है, भूमि कृषि के 'अयोग्य' हो जाती है। ताप-नियन्त्रण एवं 'जलचक्र'' नियन्त्रण बिगड़ जाता है, जन्तुजीवन के प्राकृतिक निवास एवं वनसंपदा नष्ट हो जाते हैं। प्रत्यक्ष है कि वातावरण-संरक्षण और वृक्षों का गहरा सम्बन्ध है। "रक्षया प्रकृति पातु लोकाः।" ब्रह्मोपनिषद् का यह वाक्य मनुष्य को सदैव याद रखना पड़गा अन्यथा विनाश का वह मार्ग जिस पर वह चल पड़ा है उसे कहीं का नहीं छोड़ेगा।

वेदों में पर्यावरण संरक्षण

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वत प्रवतः समं बहु।
नाना वीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्तां नः।।

अथर्व० १२/२

वनस्पतियों से युक्त पृथ्वी ही कल्याण करने वाली है

पृथ्वी के ऊँचे भाग, अर्थात् पर्वत, समतल भाग और निम्न भाग नाना गुणों वाली औषधियों से परिपूर्ण हो। ऐसी नाना गुणों से युक्त वनस्पतियों से

मण्डित पृथ्वी ही मनुष्यमात्र का कल्याण करने वाली होती है। जब पृथ्वी के उक्त तीनों भाग वनस्पतियों से नंगे हो जाते हैं तो पृथ्वी मनुष्य का कल्याण करने में असमर्थ हो जाती है।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठाहिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रति भूमिरग्निमिन्द्रऋषभाद्रविणे नो दधातु ॥
अथर्व० १२/६

भूमि सम्पूर्ण सम्पदाओं की जननी है

यह पृथ्वी समस्त विश्व का भरण-पोषण करती है यह सभी प्रकार के ऐश्वर्यों को धारण करती है, इस पृथ्वी की छाती में सभी स्वर्ण आदि धातुयें विद्यमान हैं, इसी में समस्त प्रकार की अग्नियाँ भी रहती हैं। यह धन एवं सभी को वल प्रदान करती है। अर्थात् ऐसी भूमि की हमें रक्षा करनी चाहिये।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यंते पृथिवीस्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणी विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ अथर्व० १२/११

पृथ्वी की रक्षा कर, वह तुम्हें दीर्घजीवी बनाएगी

हे मानव ! भूरे रंग वाली, काले रंग वाली और लाल रंग वाली पृथ्वी क्रमशः भरण-पोषण, कृषियोग्य और अत्यन्त उपजाऊ होती है एवं रमणीय पर्वतमालाओं एवं नाना प्रकार के वनों से परिपूर्ण रहती है। ऐसी भूमि मनुष्य को पूर्ण आयु प्रदान करती है एवं स्वस्थ रखती है।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवी विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि ॥
अथर्व० १२/२७

नाना प्रकार के वृक्ष और वनस्पतियों से मण्डित पृथ्वी

जिस भूमि पर सदा बहुत बड़े वन और जंगल तथा नाना प्रकार की वनस्पतियाँ स्थिर रूप में रहती हैं, जिसके पेड़ों को कभी भी नहीं काटा जाता है, वह पृथ्वी सभी की पालना एवं रक्षा करती है, हम उसको नमस्कार करते हैं।

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रेतदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ।।
अथर्व० १२/३५

बिना प्रयोजन के भूमि को न खोदें

हे भूमि हम तेरे जिस भाग को खोदें, वह शीघ्र ही हरा-भरा हो जाये अर्थात् पौधों को इस तरह न काटें कि वह फिर से न उग सकें। लोहा, कोयला आदि पदार्थों के निमित्त हमें भूमि को खोदना पड़ता है परन्तु उसे सावधानी से खोदें। पृथ्वी अन्वेषण करने योग्य है परन्तु भूमि की रोहण शक्ति को हम नष्ट न करें। उसे व्यर्थ में न खोदें (अन्यथा इससे भूमि अपरदन होगा)।

शिलाभूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरे नमः ।।
अथर्व० १२/२६

पृथ्वी के विभिन्न रूप

वह पृथ्वी शिला, पत्थर, धूल मिट्टी आदि रूपों वाली है। इस भूमि के वक्षस्थल में सोना, चांदी, लोहा, तांबा, हीरे, जवाहरात एवं खनिज लवण आदि विद्यमान हैं। ये खनिज लवण पौधों की वृद्धि के लिये आवश्यक होते हैं। यह भूमि सबको धारण करने वाली है। हमें इसका सत्कार करना चाहिये।

पर्यावरण प्रदूषण का वैदिक समाधान

—डा० भारतभूषण विद्यालङ्कार
रीडर, वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

जब हम पर्यावरण की चर्चा करते हैं तो सर्वप्रथम उसके क्षेत्र के बारे में प्रश्न उठता है। यह पर्यावरण है क्या ? क्यों यह अधिक चर्चा का विषय बन गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ से लेकर ग्रामटिकाओं तक इसकी चर्चा होने लगी तथा उसके प्रदूषण के भय से कम्पन प्रारम्भ हो गया।

पर्यावरण—परि+आ+वरण अर्थात् इस सम्पूर्ण दृश्य तथा अदृश्य जगत को सब ओर से आवृत करने वाला। वैसे तो पर्यावरक ब्रह्म ही है, क्योंकि वही एकमात्र ही इस सम्पूर्ण जगत को एक पाद में धारण किये हुए है '(त्रिपाद् ऊर्ध्व दिवि)" । परन्तु यहाँ हमारा विचारणीय ब्रह्म न होकर पृथ्वी को प्रभावित करने वाले प्रकृतितत्व है। इसलिये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसके अध्ययन का विषय है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पंचतत्वों से बना है, अतः पञ्चतत्व इसके कारण हैं। "सत्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" के अनुसार प्रकृति के तत्वों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। और यह प्रकृति जीवजगत का कारण है। परन्तु जब इस साम्यावस्था में वैषम्य उत्पन्न होता है, कोई प्राकृतिक या कृत्रिम व्यवधान इसमें उपस्थित होता है, तो यह जीवनदायिनी प्रकृति जीवन को समाप्त करने का साधन हो जाती है। यह असात्म्य, आकाश में ध्वनि के माध्यम से, वायु में विभिन्न गैसीय तत्वों के उच्चावच होने से, आग्नेय तत्व सूर्यादि से आने वाली किरणों के अल्प या तीव्र अथवा हानिकारक तत्वों के रूप में पृथ्वी तक पहुँचने से, जलों के बहुत बरसने, न बरसने या क्षार, अम्ल इत्यादि से प्रदूषित होकर पृथ्वी पर आने से यह पार्थिव जगत प्रभावित हो जाता है। और यह प्रभाव हमें वनस्पतियों, प्राणियों, रोगों या प्राकृतिक उपद्रवों इत्यादि के रूप में दिखाई देता है। पृथ्वी पर भी यह प्रभाव वातावरण को दूषित करके फैलता है। विविध प्राणी विशेषरूप से मनुष्य इस सन्तुलन को बिगाड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं।

वैदिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से विदित होता है कि पर्यावरण प्रदूषण तो समस्या है ही नहीं। क्योंकि वेदों को सृष्टि के आरम्भ में मानने पर उस समय पूर्ण व्यवस्थित वातावरण था। उसमें किसी प्रकार का दोष उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं था। सर्वत्र दैवीय पर्यावरण था। वृक्ष, वनस्पतियों, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा सभी जीव उस वातावरण में शुद्ध रूप में थे। ऋषियों को प्राप्त यह ज्ञान मनुष्य को सुखसाधन सम्पन्न एवं व्यवस्थित समाज के साथ ही धन-धान्य एवं रोग-शोकादि को दूर करने का उपाय भी बताता है। ऋषियों ने विचार किया और इस दैवीय पर्यावरण को बनाये रखने के लिए साधन के रूप में यज्ञ को चुना।

नवनवेषोन्मुखी प्रज्ञा के धनी उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अनुभव किया कि जीवों द्वारा इस पृथ्वी को मल-मूत्रादि के द्वारा, वायु एवं अन्तरिक्ष को श्वास-प्रश्वास एवं अन्य दुर्गन्धयुक्त क्रियाओं द्वारा, जलों को नाना कारणों से प्रदूषित कर देने से जीवन समाप्त हो जायेगा। अतः इन्होंने सम्पूर्ण जगत में व्यापनशील विष्णुरूप यज्ञ[1] के द्वारा इन सभी देवों को सन्तुष्ट एवं तृप्त करने का उपाय खोज निकाला। यज्ञ से उठता हुआ सुगन्धित धूम्र अन्तरिक्ष से आगे बढ़कर द्युलोक तक पहुँच जाता है। यह धूम्र वायु को शुद्ध करके मेघों के माध्यम से जल को पवित्र कर देता है। शुद्ध जल पृथ्वी के मलों को धोकर स्वच्छ करते हैं और पर्जन्य पिता के बरसने से यह भूमिमाता सस्यशालिनी होकर नाना वृक्षों, वनस्पतियों एवं जीवों को अपने गर्भ से बाहर प्रकट कर देती हैं।[2] यज्ञ के इसी विष्णुरूप की पुराणकारों ने एक भव्य कल्पना की। वह विष्णु "त्रिधानिदधेपदम्" तीनों लोकों को नाप लेने वाला है। वह अन्त में जलों में शान्त होकर जल में शयन करने वाला शेषशायी है। विष्णु की इस सर्वव्यापकता को हम पर्यावरण की सर्वव्यापकता कह सकते हैं।

इस यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया।[3] दूसरे शब्दों में जीओ और जीने दो का सिद्धान्त जीवन के हर क्षेत्र में लागू करना ही यज्ञ है। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" यह जीवन का सबका अधिकार तभी सुरक्षित

---

१. यज्ञो वै विष्णुः।

२. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यपिता स उनः पिपर्तु ॥ अथर्व–१२/१/१२ ॥

१. यज्ञो वै श्रेष्ठतमयकर्म।"

रखा जा सकता हैं जब व्यक्ति देवऋण से उऋण होने का निरन्तर प्रयास करते रहे ।—अर्थात् यज्ञ के द्वारा पर्यावरण का सुरक्षित रखना ही श्रेष्ठतम कर्म है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों का जीवनरक्षक होने से यज्ञ को प्रजापति कहा गया है। निघण्टु में यज्ञ के वाचक शब्दों में प्रजापति भी पढ़ा गया है यह प्रजारक्षण तभी सम्भव है जब हानिकारक तत्वों को दूर किया जाता रहे। 29-79

यज्ञ के माध्यम से यह कर्म भी सुगमता से होता है। यज्ञ में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म (माइक्रोफाइन्ड) होकर सब जगह फैल जाता है। जीवन एवं दीप्तिकारक घृत के साथ विभिन्न प्रकार की औषधियां अपने गुणों के द्वारा पर्यावरण को सुगन्धित एवं पवित्र कर देती हैं। "यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः"। अथर्व० १२-१-२२। अथर्व० ४-३७ में अजशृङ्गि, गूगल, पीला, नलदी, औक्षगन्धि इत्यादि के द्वारा कृमिनाश की चर्चा है। प्रश्न उठता है कि यज्ञ कीटाणुनाश कैसे करता है। यदि हम किसी कीटाणु को विकसित (कल्चर) करके यज्ञ धूम में रखते हैं तो वह मरता नहीं है यदि उसे D.D.T. या अन्य विषैले द्रव्य में रख देते हैं तो वह समाप्त हो जाता है। परन्तु वह विषद्रव्य वातावरण में फैलकर पर्यावरण को, शरीर में जाकर रोगाणुओं के साथ ही अन्य लाभकारी कीटाणुओं को भी क्षति पहुँचाता है, परिणामतः शरीर दुर्बलता एवं अन्य रोगों से ग्रसित हो जाता है। इसको समझने के लिए हम यदि मलेरिया के रोगाणु को कुनीन में डुबा दें तो वह मर जायेगा परन्तु यदि उसे मलेरिया की आयुर्वेदिक औषधि सुदर्शन चूर्ण के द्रव में डुबा दें तो शायद वह नहीं मरेगा। आयुर्वेदिक औषध शरीर में ऐसा वातावरण, ऐसी परिस्थितियाँ या ऐसी शक्ति उत्पन्न कर देती है कि रोगाणु विकसित नहीं हो पाता परिणामतः बिना किसी दोष के रोगाणु समाप्त हो जाते हैं। यही स्थिति यज्ञ कीटाणुओं के बारे में है।

अग्नि द्वारा कृमियों को नष्ट करने के बहुत से प्रमाण हमें वेदों में उपलब्ध होते हैं। "अग्नी रक्षोहामीवचातनः" (अथर्व० १-२८-१) "प्रति दह यातुधानान्प्रतिदेव किमीदिनः" (अथर्व० १-२८-२) "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्ता रक्षः निष्टप्ता अरातयः" (यजु० १-३) अथर्ववेद में तो इस प्रकार के बहुत से सूक्त हमें प्राप्त होते हैं। ये कीटाणु पृथिवी से द्युलोक तक फैले हुए हैं (अथर्व० ४-२०-६) का मन्त्र इसे स्पष्ट कर रहा है।

यज्ञ न केवल पर्यावरण को शुद्ध करता है अपितु वह धन-धान्य एवं पुष्टि भी प्रदान करता है। "यज्ञाद्भवति पर्जन्य प्रर्जन्यादन्नसंभव अन्नाद्

भवन्ति भूतानि" तथा "भूम्याम् देवेभ्योददति यज्ञं हव्यम्रंकृतम् । भूम्याम् मनुष्या जीवन्ति स्वध्यान्नेन मर्त्या." (अथर्व० १२–१–२२) इस प्रकार यज्ञ इस पर्यावरण को अर्थात् प्रकृति एवं जीवों के क्रमिक नैरन्तर्य को बनाये रखने का साधन बना ।

इस पृथिवीस्थ दोष को सुधारने का महत्वपूर्ण कार्य वृक्ष बड़ी सहजता से करते हैं । वर्तमान कल-कारखानों से निकलने वाले वायवीय प्रदूषण के विष को ये शिव की भांति पी जाते हैं। पत्तियाँ वायु में मिले प्रदूषक पदार्थों के सूक्ष्मकणों को रोक और सोख लेती हैं । उदाहरणार्थ जंगल जलेबी पत्थर के कोयले से उत्पन्न धुएं की सान्द्रता में २७% की कमी और सल्फरडायाक्साइड की सान्द्रता में ८०% की कमी करने में समर्थ पाया गया । यदि सड़कों एवं मकानों के मध्य दस मीटर चौड़ी एवं ६ मीटर ऊँची हरित पट्टिका का विकास किया जाय तो कार्बन मोनोक्साइड को मात्रा में ४४% की कमी हो सकती है । भारत सरकार ने इस देश के वातावरण को देखते हुए पर्वतीय क्षेत्रों में ६०% भूमि पर तथा मदानों में न्यूनतम ३३% भूमि पर वृक्षों की अनिवार्यता घोषित की। परन्तु वर्तमान में यह स्थिति पर्वतों पर २५% तथा मैदानों में १७% मात्र रह गये हैं जबकि प्रदूषण पहले की अपेक्षा लगभग दो गुणा हो गया है । अथर्ववेद कहता है कि "यस्याम् वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवीं विश्वधापसं घृतामच्छा वदामसि" (१२–१–२७) अर्थात् जिस भूमि में वृक्ष एवं वनस्पतियाँ सदा खड़ी रहती हैं वह भूमि विश्व के समस्त जनों का भरण पोषण करने में समर्थ होती है । इसी प्रकार ऊँचे-ऊँचे बर्फ से ढकी चोटियों वाले पर्वत एवं वनों से आच्छादित तलहटियों से युक्त भूमि सबको सुख देती है । "गिरयस्ते पर्वताहिमवन्तारण्यंते पृथिवीस्योनमस्तु" (अथर्व० १२–१–११) भूमि के ऊँचे नीचे तथा समतल सभी क्षेत्र वृक्षों एवं वनस्पतियों से युक्त होने चाहिएँ । "यस्या उद्वत प्रवतः समंबहु । नाना वीर्याओषधीर्याविभर्तिपृथिवी नः प्रथतां शध्यतां नः" (अथर्व० १२–१–२) इसके अतिरिक्त बहुत सी वनस्पतियाँ कीटाणुनाशक भी होती हैं। "वनस्पतिः रक्षः पिशाचाँअपबाधमानः" (अथर्व० १२–३–१५) सरसों, तुलसी, पीपल, जैसे पेड़-पौधे स्पष्ट ही कृमिघ्न हैं। (अथर्व० २–६–१) में तो स्पष्ट रूप से प्रार्थना की गई है कि हे वनस्पति जीवों के इस लोक को उन्नतिशील बनाओ (वनस्पते जीवानां लोकमुन्नयः) ।

यजुर्वेद में "वृक्षाणां पतये नमः" कहकर वृक्षों की रक्षा करने वालों के लिए सत्कार प्रदर्शित किया गया है तो (अथर्व० २–८–५ में) 'नमः

क्षेत्रस्य पतये वीरुत" कहकर नम्र भाव धारण किया गया है। सूक्त के सूक्त वनस्पतियों को समर्पित हैं । अथर्व० ८-७ में इन वनस्पतियों का वर्गीकरण भी किया गया है । आयुर्वेद में रोग निवारण के लिए ली जाने वाली वनस्पति कब, कैसे, किसके द्वारा उखाड़ी जाये इसकी भी चर्चा की गई है जिससे कोई अभद्र पुरुष उस वनस्पति का वंश ही नाश न कर दे। अथर्व० १-३४-१ में भी "मधुनात्वाखनामसि" कहकर इस आर संकेत किया गया है। ऋग्वेद का अरण्यानी सूक्त वनों के रक्षण के लिए प्रेरणादायी है। इन अरण्यों के बल पर ही यह संस्कृति पल्लवित और पुष्पित होती रही। जिस संस्कृति के मानने वालों की १०० में से लगभग ८० वर्ष की आयु वन में ही व्यतीत होती है उससे अधिक वनों की क्या प्रशंसा की जा सकती है । पीपल, बरगद, तुलसी इत्यादि वृक्षों का पूजन आज भी इस देश में दिखायी देता है ।

अग्नि पुराण के अनुसार "यदि कोई व्यक्ति अपने वंश, धन और सुख में वृद्धि की कामना करता है तो वह फल-फूल वाले किसी वृक्ष को न काटे। जो व्यक्ति दस कुँए खुदवाता हैं उसे एक तालाब खुदवाने का पुण्य मिलता है। दस तालाब खुदवाने वाले को एक झील खुदवाने का पुण्य मिलता हैं । दस झीलें खुदवाने वाला व्यक्ति एक देशभक्त उत्पन्न करने का पुण्य प्राप्त करता है। और दस देशभक्त उत्पन्न करने का पुण्य एक वृक्ष लगाने से कम है ।" मत्स्य पुराण के अनुसार "एक वृक्ष का आरोपण दस पुत्रों के बराबर है।" वराह पुराण कहता है कि "पंचाम्र वापी नरकं न याति" अर्थात् पांच आम के वृक्ष लगाने वाला कभी नर्क नहीं जाता। पद्म पुराण के अनुसार "जो मनुष्य सड़क के किनारे छायादार वृक्ष लगाता है वह स्वर्ग में उतने ही समय तक सुख भोगता है जितने समय तक वह वृक्ष फलता फूलता रहता है।" इन कथनों के बारे में दार्शनिक रूप से हमारा मत भिन्न तो हो सकता है परन्तु वृक्षों को जो महत्व हमारे पूर्वजों ने दिया था उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं है।

हमारा सारा ही चिकित्साशास्त्र जो आयुर्वेद के नाम से जाना जाता है, औषधियों एवं वनस्पतियों पर निर्भर है । हमने उसके महत्व को देखते हुए उसे "उपवेद के रूप में स्वीकार किया। वनस्पतियों का, उनकी रक्षा का गुणगान भी बहुत हुआ । परन्तु वेदों के प्रादुर्भाव से अब तक लाखों करोड़ों वर्ष का इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है। परन्तु बीच-बीच की किन्ही घटनाओं से यह स्पष्ट विदित होता है कि हमने उन चेतावनियों को सुना नहीं, सुना भी तो उसे असली जामा नहीं पहनाया।

हमारे साहित्य में यहाँ तक कि विश्व साहित्य में भी अवर्षण की अनेक घटनायें अंकित हैं। यास्क ने भी निरुक्त द्वितीय अध्याय के तृतीयपाद में

"द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष" कहा है । हमारे ग्रामों के दादी, नानियों की कहानियों में भी १२ वर्ष तक वर्षा न होना एक सामान्य सी बात हो गई थी। विश्व में अनेक बड़े-बड़े मरुस्थल इस बात के प्रमाण हैं कि मनुष्य जाति ने वनों को, उनके स्वाभाविक रूप को विगाड़ दिया परिणामतः प्राकृतिक दण्ड हमें मिला। आज भी दिल्ली की ओर बढ़ते रेगिस्तान के कदमों की चेतावनी हमारे वैज्ञानिक देते आ रहे हैं। पर एक दूसरा भी रेगिस्तान फैल रहा है जो हिमालय से उतरकर आ रहा है। पर्वतों से उतरता पानी पेड़ों के कट जाने से भूमि को तोड़ता फोड़ता नदियों की गहराई को कम कर देता है, परिणामतः वह जीवनदायी जल बाढ़ के रूप में मृत्यु की विभिषिका के रूप में हमारे सामने है और प्रतिवर्ष नदियां अपने उदर को चौड़ा करती जा रही हैं। उनमें गांव, शहर, सभ्यता, संस्कृति सब कुछ समाप्त होता जा रहा है। और पीछे रह जाते हैं मुंह चिढ़ाते से रेत की टीले। अथर्व० ६-६१-२ में "इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविर्षेभिरुर्मिभिः पारावतघ्निमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वती माविवासेम धीतिभिः।" इस मन्त्र में सरस्वती नदी द्वारा पहाड़ों की चोटियों को तोड़ने की चर्चा है। जब सरस्वती नदी विनशन् अर्थात कुरुक्षेत्र में समुद्र से मिलकर उस समुद्र को रेत से भर रही थी। उसी भयंकर बाढ़ की स्मृति मनु के जलप्लावन की कथा एवं काल रहा होगा। परन्तु विश्व के विभिन्न द्वीपों महाद्वीपों एवं सभ्यता एवं संस्कृतियों में जाने वाली इस कथा से भी मनुष्य जाति ने कोई सबक नहीं सीखा।

वनों की रक्षा वास्तव में मनुष्य नहीं करता वह तो उसका विनाश एवं उपभोग ही करता है। इसका श्रेय तो वन्य जीवों को ही जाता है। "ये त आरण्याःपशवो मृगा वने हिताः सिंहां व्याघ्रा पुरुषादश्चरन्ति। उलंवृकंपृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अपबाधयास्मत्।" अथर्व० १२-२-४९ मनुष्यों को खा जाने वाले इन वन्य पशुओं के कारण मनुष्य इन वनों से दूर ही रहते हैं परिणामस्वरूप वन अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होते हैं। एक विचारधारा के अनुसार राजस्थान के रेगिस्तान बनने का कारण यह बताया जाता है कि वहां के मनुष्यों ने पराक्रम प्रदर्शन के लिए वन्य पशुओं का विशेषतः शेर चीतों का वध कर दिया, उससे हरिण आदि वनस्पतियों पर जीवित रहने वाले जीवों की संख्या बढ़ी तब वन विकास रुक गया। उन पशुओं के भी न रहने पर पेड़ों के पत्ते गिरने से ऊपर से गिरने वाला बीज भूमि तक नहीं पहुंच सका और नये पेड़ नहीं उग सके। हरिद्वार से उत्तर में स्थित रायवाला के जंगलों के वन्य पशुओं के मार दिये जाने से वहाँ के साल वन में नये पौधे नहीं उग रहे हैं। क्योंकि साल का बीज

१० दिन तक यदि भूमि तक नहीं पहुंचेगा तो उसकी अंकुरणक्षमता समाप्त हो जाती है। पत्तों के गिर जाने एवं उसकी तह बन जाने से यह प्रक्रिया रुक गई। - 81

जीवन तो वस्तुतः है ही जीव और वन। वृक्ष भूमि पर नमी बनाकर बादलों को बरसने के लिए प्रेरित करते हैं, और जड़ों के माध्यम से जल को भूमि में ले जाकर (वाटर लेवल) जलस्तर को बनाये रखते हैं । और भूमि के अपरदन को रोकते हैं। भूमि के जिस स्तर को बनाने में प्रकृति को हजारों वर्ष लगते हैं' पेड़ न होने पर वह कुछ मिनट में ही नष्ट हो सकता है। तब जीवन अर्थात् जल को प्रवाहित करने वाली ये नदियां मातृत्व छोड़कर विनाशकारी रुद्र रूप धारण कर लेती हैं।

अथर्व वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि "यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपिरोहतु। माते मर्म विमृग्वरी माते हृदयमर्पिवम्।" (अथर्व० १२-२-३५) हे भूमि माता मैं जो तुम्हें हानि पहुंचाता हूं शीघ्र ही वह क्षतिपूर्ति हो जावे, हम अत्यधिक गहराई तक (कोयला इत्यादि) खोदने में सावधानी रखें क्योंकि यह पृथिवी अन्वेषण योग्य है उसे व्यर्थ खोदकर उसकी रोहण शक्ति को नष्ट न करें । उसे व्यर्थ न खोदें, अन्यथा अपरदन का भय बना रहेगा । इसलिए ब्रह्मोपनिषद् में कहा गया है कि "रक्षया प्रकृति पातु लोकाः"।

प्रकृति में पृथिवी की अपेक्षा जल की मात्रा कई गुनी है। परन्तु वह खारा जल किसी काम नहीं आ सकता । जल का एक नाम ही जीवन है पर यह जीवनदायी जल आज विषैला हो गया है। जो दैवीय जल आकाश से बरसता है उसका भी हम केवल ४% ही उपयोग कर पाते हैं शेष सब हमारा ही विनाश करता हुआ समुद्र में जा मिलता है । हमारा वातावरण स्वच्छ होगा तभी ऊपर से बरसने वाले जल भी स्वच्छ होंगे। वेद कहता है "यासां देवादिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति । या अग्नि गर्भदाधरे सुवर्णास्तान आपःशं स्योनाभवन्तु" (अथर्व० १-३३-३)। द्यु एवं विद्युत अन्तरिक्ष में मेघों के रूप में रहने वाले जल, जो कि विद्युत को अपने गर्भ में धारण करते हैं वे उत्तम वर्ण या स्वर्ण के समान तेजयुक्त जल, हमारे लिए सुखदायक हों।

वेदों में विशेषतः अथर्व० में जलचिकित्सा की भी बहुत चर्चा है "अप्सु भेषजम्" "अपो यायामि भेषजम्" 'अन्तर्विश्वानि भेषजः' 'जलापभेषजः,

इत्यादि बहुत से वाक्य उपलब्ध होते हैं। हमारे तथा हमारे पशुओं के लिए शुद्ध जल उपलब्ध हो। यह जल की शुद्धता भी हमें उसके प्रदूषित होने से रोके जाने का उपदेश देती है।

सूर्य से तो रोगनाश एवं कीटाणुनाश दोनों की प्रार्थना की गई है "सूर्यकृणोतु भेषजम्" (अथर्व० ६-८३-१) हमारे घर ऐसे हों जहाँ धूप खुलकर आती हो "तावां वास्तून्युरमसिगमध्यै यत्र गावो भूरि शृंगा अयासः"। ऋग्० १-१५४-५" पोलिया जैसे रोगों की तो यह अचूक औषध है। 'अनुसूर्यमुदयतांमहृद्योतो हरिमा-चते । गो रोहितस्य वर्णेन तेनत्वा परिदध्मसि" (अथर्व० १-२२-१) आदि। अग्नि से भी अनेक स्थानों पर कीटाणु नाश को कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पञ्चतत्वों के प्रदूषण से उत्पन्न होने वाले रोग और उनके कारणों को दूर करने की प्राथना की गई है। इन सबमें द्युलोक की चर्चा तो है पर कहीं भी ध्वनि या उससे सम्बन्धित रोगशोकादि की चर्चा नहीं हैं।

प्रसिद्ध शान्ति पाठ तथा बहुत से मन्त्रों में पर्यावरण के अन्तर्गत आने वाले पदार्थों से शान्ति को कामना की गई है। "शान्ताद्यौशान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षं । शान्ता उदन्वतोरापः शान्तानः सन्त्वोषधीः" अथर्व० १९-९-१। अन्यत्र प्रार्थना को गई है कि "य रेव ससृजेघोरं तैरेव शान्तिरस्तुनः" अथर्व० १-९९-५। यह वास्तव में पर्यावरण प्रदूषण रोकने का मूल मन्त्र है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना बहुत जरूरी है कि प्रदूषण के लिए प्रायः जनसंख्या को उत्तरदायी माना जाता है कि बढ़ती जनसंख्या के लिए औद्योगीकरण बढ़ता है, उससे प्रदूषण बढ़ता है। किन्तु अनेक तथा-कथित विकसित, पर कम जनसंख्या वाले देशों में प्रदूषण अधिक है। उसका कारण है प्रतिव्यक्ति की आवश्यकता का अधिक होना, तृष्णा एवं भोगवादी संस्कृति। अतः हमारे ऋषियों ने अपरिग्रह को तथा त्याग को वरीयता दी।

पूर्व प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने कहा था कि यह बड़े खेद की बात है कि "सभी देशों में उन्नति का अर्थ प्रकृति पर आक्रमण समझा जाने लगा है............जरूरत इस बात की है कि रहन-सहन का स्तर भी सुधरे और लोगों को जो कुछ भी विरासत में मिला है उसमें कोई फर्क न आये और न प्रकृति के सौन्दर्य, ताजगी और स्वच्छता में। जो हमारे जीवन के लिए बहुत जरुरी हैं, कोई कमी आये।

—इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। अथर्व० १८-२-२१॥

ऊर्जा संसाधनों की खोज

— एच० सी० ग्रोवर

इतिहास गवाह है कि प्रारम्भ में पशु और लकड़ी हमारी ऊर्जा के आधार थे और लकड़ी के स्थान पर कोयला, कोयले की जगह तेल और गैस को लेने में आधी शती के लगभग समय लगा। लेकिन वर्तमान में प्रचलित ऊर्जा का स्थान अन्य स्रोत शीघ्र ही लेंगे ऐसी आशा की जाती है। ऐसा नहीं हो पाया तो समूचा विश्व संकटग्रस्त हो जायेगा।

प्रारम्भ में लकड़ी से कोयला और तेल तथा गैस के जब बदलाव हुए थे तब परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। तात्पर्य यह कि आर्थिक संवृद्धि की गति तेज थी और ऊर्जा के नए स्रोतों की उत्पादन लागत भी कम आ रही थी। पर अब जो प्रणालियाँ अपनायी जाएँगी, वे काफी महँगी पड़ेंगी।

बढ़ती जरूरतें और घटते संसाधन—

पृथ्वी के लगभग ५०० करोड़ लोग लगभग १०,०००,०००,०००,००० वाट (१० टेरावाट) अथवा १०^{12} वाट ऊर्जा का प्रयोग करते हैं। ऊर्जा की वर्तमान खपत २.२ किलोवाट घण्टा प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति है पर सारी दुनियाँ में यह दर समान नहीं है।

हमारी वर्तमान आवश्यकताएँ और भविष्य का आंकलन—

१. जीवाश्म ईंधन (Fossil Fuel)—

जीवाश्म ईंधन के मुख्य चार स्रोत हैं— कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस, तेल शिलाएँ तथा डामर बालू। अब तक सारा विश्व लगभग १३० गिगाटन (१३०×१०^9 टन) कोयला प्रयुक्त कर चुका है। एक वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार सारी दुनियाँ में खानों से निकाला जा सकने वाला ज्ञात कोयला लगभग ६०० गिगाटन (६००×१०^9 टन) है जो अब तक प्रयोग किए जा चुके कोयले का लगभग ४ गुना है। हम प्रतिवर्ष (विश्व भरमें) २.६ गिगाटन (२.६×१०^9 टन) कोयला इस्तेमाल करते हैं।

आर्य भट्ट

विज्ञान - पत्रिका

अप्रैल — १९९०

The Nature of Reality According to Science and Philosophy :

Its implications for science and the potentials of metaphysics

Man through the ages has desired to understand the truth about existence. He has continually probed the cosmos to arrive at its ultimate truth. This has taken the form of a variety of enquiries; the most basic one being the investigation into the nature and constitution of the cosmos and the purpose of its existence. The former of the two is the question of the nature of Reality, the basic truth or the ultimate fact of all existence. It is interesting to note the implied intuition that the variety and plurality of existent beings are modes of a Basic Being. It is the Being that is referred to as Reality.

The enquiry into the nature of this Reality may be safely designated as the oldest and the longestl asting one in the history of human knowledge. The ancient history of the Greeks, the Chinese and the Indians, considered the most ancient civilizations of the world, reveals these

peoples to have been pre-occupied with this question. Several answers were posited. The ancient Greeks of the Pre-Socratis period (6th & 5th cBC) enquired into the origin of all existence and posited a variety of answers. The much more ancient Vedic people (approximately) placed between 2500 BC-600 BC) ventured on the same search, and we have their insights and intuitions in the Vedas and the Upanisads--one of the most ancient documentations of primeval wisdom.

Notwithstanding the efforts of these ancient peoples, the subject continued to fascinate seekers in subsequent periods. So the enquiry has continued through time, taking on different forms, using different methods and adding, altering, cancelling or dismissing the older answers. Today the work of the most ancient enquirers has become part of historical antiquity. The present age characterized by 'modernity' translatable as materialism, empiriciem and the triumph of discursive reason considers the ancient insights exotic, esoteric or sheer mysticism, but certainly not deserving of the status of knowledge. Some have condescended to refer to the ancient Greek attempts as a form of natural science. But the Indian attempt is dismissed lightly as mystical and muth. The denunciation comes from both, scientists steeped in the empiricist tradition and also from philisophers oriented to the Western approach of objective, rational enquiry. True knowledge is today considerd to be the prerogative of the scientist- Its criterion is

factuality. Fact is considered that information which is objective in the sense of being 'public' and not 'private' knowledge; empirical, that is acquired by the senses, and verifiable, that is its truth is demonstrable by methods that employ the senses along with discursive reasoning. Any assertion that does not embody these characteristics is deemed to be either superstition or fantasy or just unfortunate, blind faith. They are denounced (at least in public life) by the average layman, the average scientist and a good section of philosophers.

The thesis of this paper is that this denunciation is untenable because it is the consequence of prejudice and rigidity of thinking - qualities, which ironically in this age of science would undoudtebly be considered anathema. It also indicates the power of the impact that scientism with its characteristic emphasis on empiricism and rationality has had on the philisopher community. The author's thesis asserts that :

i) all ancient metaphysics is not myth and fantasy or mysticism.

ii) it is not the result of uncritical, guess work.

Rather, it is insight gained after a very rigorously, disciplined process of enquiry. Modern science does the most sophisticated of its investigations in highly formalised and controlled conditions. The ancient seens of India recognized the need for formalism and

control but they applied it to conditions within themselves. That their insights and intuition thus gained were not fantasy or myth or mysticism is clear from the parallels in the discoveries of modern physics. Enquiries here in to the truth of all existence is today giving answers in terms of Relativity, quantum mechanics, a primeval, unimaginably dense state, a primeval liquid, the Big Bang, an expanding cosmos, forces, fields and charges, reducsive analysis of the objects of our common experience into an incredible shadown world of forces, fields, charges and particle-waves. There is also the non-factuality of absolute space and absolute time and the substitution for it of the four-dimensional continum. The final verdict os physics on the ultimate nature of all existenee is that all is energy. In addition, today there is also the holographic paradigm proposed by Karl Pribram and the is—

1. Karl Pribram is neuro-scientist at Stanford University. He arrived at this theory from his experience that .. 3 The brain's 'deep structare' is holographic. Initially he was not interested in mysticism But ultiimately his findings transformed him from Behaviourist in 1940s to defender of Spiritualism in 1970s frequencies. There is no time, no space; only events. Sensible reality is referred to as a 'special case' constructed by the brain drawing from the domain of frequencies. David Bohm the physicist too spoke of an 'enfolded order'. This he contrasted with the 'unfolded order', that is the order of

things. This latter state of existence, he said, was abstractions from the invisible, intangible flux that is not composed of parts, but is an inseparable inter-connectedness. Concreteness and thingness are only illusions. David Bohm, upholding the holographic model referred to the unfolded order (i. e. the order of explicit thingness) as second generation reality. The enfolded order, the said, was the primary order from which emerge the apparant realities. He likened the enfolded order to DNA in the nucleuse of the cells, harbouring the potentials and directing the unfolding. In contrast to Pribram's Holograph, Bohm, emphasising the inherent dynamism of the enfolded order, spoke of holomovement. This latter conception found favour with Frijof Capra, the physicist. His boot-strap theory is very akin to the holomovement model of Bohm. All this contrasts starkly with the older paradigms and models in science-the method of linear, logical thought process.

Anyone who is conversant with Vedic and Upanisadic wisdom will without fear of being branded a chauvinist, declare that incredible as this account of Total Being seems, it is not new information at all. The discounting of the reality of the sensible world is one of the chief ideas of ancient Indian traditional wisdom also. The sensible world is described as maya, illusion, and as'mithya (ie. that which will pass away). In contrast the Real, referred to as Brahman, is declared to be 'ekam satyam', the one truth. The UPanisads repea-

tedly refer to the truth being veiled and exhort us not to mistake the unreal for the real.

It is heartening to find that some (though the number is yet small) of the top-ranking physicists of recent times have been acknowledging this fact of the early cognizance of the ultimate truth by metaphysicians. This however is not really surprising. Any intellectual enquiry on striking depth must inevitably come face to face with the noumenal. Then the scientist acknowledges the fact that metaphysics is neither sheer fantasy nor emotional mysticism. This trend is perceptible in Karl Pribram, David Bohm, Werner Heisenberg, Paul Davies, Fritjof Capra, Raja Ramanna.

Scientists today are also realizing the need for science to acknowledge its weaknesses and change its methods. They realize that the new vision of reality makes this imperative. Dr. Raja Ramanna is his Paper entitled Indian Holistic Experience and Analytical Rationality, presented and Mind and Nature Congress, Hannover West Germany in May 1988, said, 'we have seen in the last half century, how new discoveries in the sciences have altered our thinking. It is now time to examine whether the altered path is trying to turn us back into the past, even if it be only to have a new look at the older deductions in the hope that it could lead to now methods of investigations. 'Referring to the fact that the older methods have been criticized on the grounds that they are :—

i) not based on measured date

ii) based on verbal testimony and/or

iii) mystical

he says (i) may be the very restriction of science restraining our understanding of all knowledge. ii & iii may be partly true, but such views have come about due to unsympathetic translations and other historical reasons.

Science, it must be conceded, has some inherent weaknesses The most significant one is the fact that it always approaches a problem through a theory. This makes for pre-determination of the mode of perception consequently of the solution. Science today has acknowledged this limitation, but all the same it appears to be an irremediable one. This same limitation can cause dismissal of certain problems as non–issues or of certain solutions as unacceptable.

The scientific approach involves the subject--object dualism. This `gives rise to the illusion of a schism which in turn becomes the ground of degrees of falsity in the solution.

The sensory-national method of science by its very nature can offer to the knower, only the image produced by the neural system. Like Plato's cave-dwellers the scientist is doomed to know only the shadows. Also,

being dependent on the physiological mechanism, the progress of knowledge be comes determined by the limits of the mechanism.

It is a known fact that the Indian seekers who acquired astoundingly deep insights and holistic visions of truth, did so by methods different from those used by modern science.

They did not depend on sensory observation, experimental conditions and discursive reason. Their method was to acquire the information not from the world without but from within themselves while being in a state of deep concentration. This however was no easy task. The rigour that characterizes the preparation and performance of modern day scientific experiments was directed to setting right the conditions within the knower. This involved a long process of learning, refle-ction and practice of physical, mental, emotional and ethical discipline. This long, rigorous preparation of the knower was deemed necessary inorder to awaken in him the yet dormant but very powerful faculty of know-ing. This is achieved by the gradual stimulation of the vitalnerve centres in the body. In most people the centres remain dormant throughout life. All this may seem fantastic or mystical to the skeptic, the typical empirical scientist and the positivist philospher. However even Western medical and psychiatric sciences have started taking serious note of the Yogic account of the human

body and its potentials.

It should not however be too difficult for scientists to accept this view. As a scientist, one must be open to new possibilities. The history of science has numerous instances of the most incredible possibilities turning out to be accepted facts. For example it is by no means easy to believe that the truth of the table I write upon is just innumerable quanta of energy holding together. Equally incredible is four dimensional or multi-dimensional space. There have also occurred the replacement of long accepted paradigms-- for example the Relativity paradigm has taken over supremacy from the mechanical universe of Newton. Science is the rigorous search for truth and here nothing can have more sanctity than the truth that is being sought.

Many of the characteristics of the old Indian tradition in knowing are not absolutely alien to science. Intuition and insight have always characterized the greatest scientific discoveries, whether it was the insight of Archimedes or the intuition of Einstin. But it has always been in flashes. There has never been a sustained effort to nurture and cultivate this faculty.

Yet another factor that is common to both science and the old Indian tradition is the use of symbols, symbolic language and analogy. Modern physics abounds in them. Its facts are expressed mainly through

mathematical formulae and equations, There are some celebrated analogies too. A widely known one being Rutherford-Bohr model of the atom. In the Indian tradition a very beautiful and evocative one is Shiva in Anandatandava- the dance of energy, which is what the cosmos is according to the latest findings of physics.

Yet another common factor is the intuition of a basic monism This comes out very clearly in the quintessence of Indian thoughout as the Nirguna Brahman, the absolute, the Supreme Synthesis. In physics the present trend of reductive analysis and the greatest hope of science—the Unified Field theory stand for the same intuition.

Modern science has painfully realized the myth of absolute objectivity of fact. It has learnt . that this is a participatory universe and therefore wisely talks of 'collapse of the wave-function to indicate the 'myth' that we are 'doomed' to consider as fact. This also points to another common factor-- the unknowabiliiy of the ultimate by conventional mechanisms of knowing. Ancient Indian tradition spoke of the ultimate as being Nirguna, i. e. incapable of being qualified by attributes. The texts repeatedly warn the prospective student about the futility and dangers of hoping to know this ultimate by the methods of sense and reason. Modern science too has discovered that what we consider as known is what appears to be within the given paradigm, by the

given theory, presented by one's sensory mechanism and intellect. It is also the product of the totality of conditions within and without the knower, including the recording or measuring instrument as the case may be.

Allied to this is another fact long discovered by ancient seers. the illusion of the knower- known dualism along with the fact that as long as the knower labours under this illusion. his efforts will be futile. The truth is absolute' that is it is all inclusive. Modern science too has found that the knower can no longer imagine one self being audience in a ring-side seat. Today science talks of systems and a systems-approach-then, logically, knowing can become possible only by the knower-system 'tuning in' to the to-be-known system. Evidently this implies that the act of knowing is very different from what we understanp it to be It implies transcondence of the conventional mechanism of knowing: All this will seem heretical in the light of what is commonly thought to be the characteristics of modern science. However as T. H. Huxley, the biologist once wrote 'sit down before fact like a little child and be prepared to give up every pre-conceived notion, follow humbly wherever and to whatever abysses nature leads, or you shall learn nothing.

In conclusion then it may be said that the Reality sought to be known by science and metaphysics is essentially the same. However due to the difference



डा० सुषमा स्नातिका सरस्वती एवं वैदिक वन्दना
प्रस्तुत कर रही हैं।

in approaches and the use of different methods and mechanisms of knowing, the extent of knowledge differs in the two traditions. Indian metaphysics offers the possibility of a holistic knowing experience, But it is held as suspect by science with its insistence on the empirical verification and objectivity.

Dr. S, Shashidharan
Bombay University

Gurukula. Magazine

National - Seminar.

~~फरवरी~~ मार्च – 1990

Vedic Nosology and Pharmacopoeia

It is now an undisputed fact that Vadas are an encyclopedia dealing with every important aspect of life. They are books of knowledge for all times, places and people. They contain an inexhaustible wealth of knowledge. They contain many items not yet known, as they form a mine of literary wealth which has only partially been opened and have still remained unexploited.

Health of living beings, is the fore-most factor in life, as such Vedas give it a proper place and deal extensively with the items relating to it namely, anotomy, ethics for medical practitioners, various diseases, medical herbs and their properties, surgery, fungology and different therapies. Dr. D.V.G. Relay, a well known physician writes in his book "Vedic Gods-as figures of Biology"—"That our present anotomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the words given in Rig Veda that a question arises in the mind whether Vedas are really religious books or whether they are books on anotomy, physiology and nervous system.

"Charak says" वेदोह्यथर्वण: चिकित्सां प्राह (Charak 30·20) "that Atharvveda is mainly a book of treatment of diseases. Similarly Sushrut says "इह खल्वायुर्वेदे नाम यदुपाङ्ग अथर्वं" The book of Ayurveda is a limb of Atharvveda. Not only Atherv veda alone but Rigveda too deals with medical plants, their properties and their application for removal of ailments. There are also references in respect of elimination of some diseases through proper application of water, air, fire etc.

Chapter 12 of Yajur veda also deals in flora and fauna.

Qualifications and Qualities of a Physician :

यत्रोषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥

(Rig 10.97 6)

Physician is one who is a man of wisdom, learning and who knowns the uses of the various medical herbs and the correct use for healing the diseases.

अश्वावतीं सोमावती मूर्जयन्ती मदो जसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥

(Rig 10.97.7)

It is very essential for a physician that he should have a complete knowledge of those medicine and herbs that increase vitality and which remove ailments from the body. He should also store medicines for ready use. A true doctor should not be disheartented at the conduct of people who speak against him. He should on the contary, be kind and generous to his ditrectors and should never harbour a grudge against anybody when they are under his care.

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला कर ॥

(Ath. 5.15.1)

Oh lord dispeller af all evils; whether I am pursued by only one detrector or ten of them. Thou who are everything of a righteous disposition and having the Eternal law of righteousness in Thy control, bestow on me a sweet disposition.

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमित्वा । (Ath 5.30.8)

O man ! be not alarmed and panicy. You will not die. I make you live a matured life. This shows that doctor has to be sympathetic to his patients.

Anotomy :

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्योनीः सरूपा विरूपास्तिवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात ॥

(Ath 18.4 33)

In this mantra four colured types of pulses, veins and arteries are mentioned that help the flow of blood which is the main ingredient of the body. These are श्येनी (white) सरूपा (red), विरूपा (Deep red), एनी (purple). The whole hymn No. 33 of second Kanda of Atharv veda deals with the various parts of the body we note only a few of them which are of some important.

अक्षीभ्या (eyes), शीर्षण्य (head), अनुक्यात् (bones), असाभ्यां (shoulders) बहुभ्या (arms) ग्रीव (neck), यकृत (spleen), हृदय (heart), क्लोम्नः (lungs) पार्श्वाभ्यां (kidneys) उदरात (abdomen), नाभ्या (navel) प्लाशेः (rectum), उरु (thigh), अष्टिद्भ्या (Knees). The above mentioned parts of the body are outer ones only. Besides them internal organs, their functions, their tendencies are also fully mentioned in tenth and eleventh Kandas of Atharvveda. We quote here only a few of them.

अलापश्च (Loudspeech), त्वरणा (high speech), कृपणा (low-speech), वरिष्ट (pessimism), हस (laughter) बल (force), जव (activities), क्षुधा (hunger), तृष्ण (thirst), प्रिय (dear), अप्रिय (dislike), नन्द (pleasure), स्वप्न (dream), संकल्प (determination), चित (chita), प्रमोद (special joy), श्रद्धा (faith), निराशा (disappointment).

The subjects are for the phychologists or physiognomist to deal with who, there days, play an important part of medical treatment.

91

System of treatment :

Vedas do not confine themselves to any particular system of treatment viz. Ayurveda,as is commonly understood. There is a mention of almost all the prevalent therapies, there in for treatment of diseases.

a) **Hydropathy :** Water is noted to be an excellent cure of some of the diseases.

अप्स्व न्तरमृतप्सुभेषजम् प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः।

(Ath. 1.4 4)

Water contains into it immortality, highly disinfactant qualities, there is balm in it, through these good qualities the horses obtain their speed and strength and cows yield more milk.

आपः इद्वा उभेषनीरपो अमीवचातनीः ।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ।।

(Ath. 1.4.4)

Indeed water is medicine, water is the dispeller of the cause of diseases and it is itself the remedy of all ills.

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो: हह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ।

(Ath. 6.24.1)

Currents of water come down from hills covered with snow and meet the river or sea together. These pure water current certainly provide me with medicine thus curing the pain of heart. शं न आपो धन्वन्या इःशमु सन्त्वनूप्याः शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आमृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकः (Ath. 1.6.4)

Water, for purposes of curing, is obtained from four sources namely from desert, from marshy place, from wells dug out from land and from gases. These waters be auspicious to us.

आपः पृणीत भेषजं वरुथं तन्वे३ मम (Ath. 1-6-3)

May the waters provide us with all prophylatic balms for our physiques and make us able to see the sun for a longtime.

(b) **Naturopathy :** वात आवातु भेषजं शम्भु मयो नो हृदे । प्रण आयूंषि तारिषत् (Rig. 10.196.1). Air is very useful for our (हृदे) heart. It gives us health and strength. It increases our lives This whole hymn No. 186 deals with the air and its usefulness to remove certain ailments from our bodies.

अग्निष्कृणोतु भेषजम् (Ath. 6.106.3)

Fire treatment is useful for health–

मरुतो मारुतस्य न आभेषजस्य वहता सुदानवः (Rig 8.2.23)

Air is useful for ailments relating for heart.

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥

(Ath. 19.38 1)

The scent of Gugul medicine, when it is burnt, is useful to ward off consumption and other diseases acquired by infection.

विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वाइवेरते ।
यद् गुग्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ।

(Ath. 19.38.2)

All kinds of consumption flee away from the patient, like wild beasts and horses, when Bdellium which is either from the land of rivers and from the land of ocean are there in use in the treatment of patients.

(c) **Electropathy :**

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥

(Ath. 3.11.1)

O patient; I free you from decline unknown and from consumption with the oblation of Yajna to live with pleasure. If rheumatism has grasped this man let air and electric shock free him from the disease.

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥

(Arth. 3.11.6)

Let breath and respiration stay here in the body. Let these two not go from it (inhale & exhale). Let these bring his body till old age.

अनुसूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि ॥

(Ath. 1.22.1)

O patient! let your heart irritants and yellowness of the body flee away from you as the sun rises. We, the physicians cover you for cure with the red colour of the refracted rays.

या रोहिणीर्देवत्या इ गावो या उतरोहिणीः ।
रूपरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥

(Ath. 1.22.3)

O patient; for respiration of your beautiful complexion and age we encompass you with these sun rays which possess the brilliant red blue and which are only of red colour.

अप्रचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥

(Ath. 6.83.1)

Let the sun be the remedy and let the noon banish them all the sores and postules flee away like the eagle which flies from its nest. The whole hymn Nos 1.22&6.83 of Atharv Veda

deal with treatment from sun rays. Allmost all physicians these days recommend Sun-bath more specially for the patients who lack Vitamin A & D.

(d) **Ayurveda** : This word is the combination of two words. Ayur (आयु) + Veda (वेद) vizv. the knowledge of life. The prime object of Ayurveda is the preservation of lives of human, animals & plants. Life and life processes do not take place to the total exclusion of environment. In man, according to ayurveda, life is the manifestation of body, mind, senses & the spirit. This world according to ayurveda system consists of organic as well as the inorganic matters. It is formed out of five gross elements, viz. earth, air, sky, water & ether. All substances which are used for medicinal purposes are Compunds of these five elements. The doctrine of "tridosa" is central to the diagnosis as well as to the treatment in the system (Vata, Pitta & Kapha). There are eight Divisions of this system.

1. Salakya (Surgery)
2. Kayua Chikitsa (internal medication)
3. Bhuta vidya (demonology)
4. Kaumano bhrtya (orthopaedy)
5. Aganda (toxicology)
6. Salakya
7. Rasayana (rejuvination)
8. Vajikarma

The scope of this small article, however, does not permit to deal with all these divisions in detail.

e. Gynaecology :

वितें भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्।

(Ath. 1.11.5)

O' pregnant woman; I the physician and surgeon open your organ; stretch the mouth of womb separate the embryo from artieries adjacent to it, separate the mother from the child and keep away the child from secundivnes and secundines from the child, so that the child comes out and the secundines fall down.

सूषा व्यूऽर्णोत वि योनिं हापयामसि
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज

(Ath. 1.11.3)

Let the nurse separate the embryo from the coul and other assist to stretch the mouth of the womb. O, parturient woman, you leave your parts loose. O brave woman leave the child downward.

यथा वतो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः
एव त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्

(Ath. 1.11.6)

This tenth month old embryo comes out of womb with secundines just like the wind, mind & birds move & the secundines fall out.

f. Bacteriology :

यो अक्षयो परिसंपति यो नासे परिसंपति
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमि जम्मयामसि ।

(Ath. 5.23.3)

I destroy the worm which enters into the eye, which crawls into nose and which remains between teeth.

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णः शितिबाहवः ।
ये के च विश्वरूपायास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ।

(Ath. 5.23.5)

We completety destroy the worms which have white are black and having black arms & which have multifurious forms.

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः

(Ath. 5-23-9)

I, the physician kill the worm which is three headed, three humped and which creaps & has white colour. I split its ribs & wrench its head out.

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन वचसा जम्भयामसि

(Ath. 2-31-7)

I, the physician, destory the germs of diseases which are visible as well as which are invisible. I also kill these grems which make bad noise & those which create itch in the skin. I exterminate these germs which enter into the body very sharply, through the knowledge of vedic speech.

g. Bio-medical Engineering and Plastic Surgery :

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः
तदग्ने विद्वान पुनरामर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः

(Ath. 5-29-5)

O learned man, whatever part of the body of this man has been taken away, plungored, torn off or consumed by the germs of diseases, again heal up by proper treatment. We the doctors restore back the fiesh eaten up.

समाहर जातवेदो यदंघृत यत् पराभृतम्
गात्राण्यस्य वर्धन्तामशुखिा व्यायतामयम्

(Ath. 5.29.12)

O learned Physician ! restore him whatever has been taken away from his body and whatever has been torn off, Let the member parts of the patient grow and let him grow like the phose of the moon.

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥

(Ath. 4-12-2)

O wounded man whatever in your body is wounded, whatever in it is broken, whatever of this body in craked may the physician join together limb by limb.

यदि कर्तं पतित्वा शश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभु रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥

(Ath. 4. 12. 7)

If the large knife falling upon the body causes wound, if stone cast by some one strikes him, let the skilled physician join his limb with limb as a skilled machanic joins the parts of a car.

h. Allopathy : Expept for the fact that allopathy does not work on the basis of 'Tridosha', method of treatment is the same as in Ayurveda. Both system endeavour to produce a condition is either different from or opposite to or incomatible with the condition essential to the disease.

The method of preparation of medicine is, however, quite different from each other.

i. Psychotherapy :

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥

(Ath. 5.30.3)

I you on your own fault have created enemity against any man or woman unconsciously, I tell you by my advice the way freedom & release from the morbid state can be achieved.

यदेन सोमातृकृताच्छेपे पितृकृताच्च यत् ।
उन्मोचन प्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥

(Ath. 5.30.4)

O man ! if you are not getting sleep because of your anger against your mother or father on account of their fault do not worry, act on my advice and you will be free from you anger state :

Diseases mentioned in Vedas :

1-	Fever	13-	Scrofulous turmours
2-	T B.	14-	Pumsavam (Birth of male child)
3-	Urinary ailments		
4-	Night discharges	15-	Mental disturbances
5-	Eye diseases	16-	Indigestion
6-	Fallnig of hair	17-	Falling of teeth
7-	Piles	18-	Hysteria
8-	Impotency	18 A-	disease caused by poisons
9-	Wounds	19-	Heart diseases
10 A-	Snake bite.	20-	Asthama
11-	Leprosy	21-	Paralysis
12-	Cough	22-	Jaundice

This list is not exhaustive, there are so many other diseases mentioned in Vedas.

Medicinal herbs : Vedic literature speaks very highly of the various medicinal plants, trees and other herbs.

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्षमस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥

(Rig. 10 97.11)

As soon as I take the plants in my hand, the vanished strength is restored & the soul or the root of the malady perishes before the sick succumbs to disease.

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रि युगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहं, शतं धामानि सप्त च ॥

(Rig. 10.97.1)

I know the hundred & seven applications of the brown tinted plants, which have been growing since ancient times, much before men were born & thriving during the three seasons.

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अधाशतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥

(Rig. 10.97.2)

O medicinal plants, You are like mother of mankind, hundreds are your applications, thousands are your growth, may you who fulfil a hundred functions make the man free from diseases.

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीर फला उत ।
समातर इव दुहनमस्मा अरिष्टंतातये ॥

(Ath. 8.7.2)

Let plants with flowers & plants with beeds, the fruitful and the fruitless all like children of one mother yield their health-restoring power for this man's perfect health. Not only men have exploded the kingdom of plants & know their uses. even the animals & birds too have considerable knowledge of their use as is clear from the undernoted.

वराहो वेद वीरुधं नकुली वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्माअवसे हुवे ॥

(Ath. 8.7.23)

Plants of Angiras which hawks, celestial plants which eagles know, plants known to swans and lesser foul, plants known to all the birds that fly, plants are known to sylvan beasts, I call them all to aid the man.

अश्वावती सोमावतीं मूर्जयन्तिमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥

(Rig. 10 97.7)

I praise here the virtues belonging to four categories of medical plants :

1- Asvavati, the curatives 2- Somavati, the sedatives
3- Urjavati, the energizing and 4- Ud-ojasa, the rejuvenating. All the plants I praised for the purpose of overcoming the diseases.

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सो ऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥

(Rig. 10.97.23)

O divine herb soma, you are the best of all the plants, to you other plants pay obeisance & salute. Let him be subject to us by your power whosoever attacks us.

Pharmacopoeia :

In vedas there is a mention of more than hundred medicinal plants, trees and herbs. The curative effect of each such plant etc. can not be dealt with in detail for want of space. However, names of some of the important ones are given below :

(1) Appaamaarge (Ath 7.65)
(2) Arundhatee (Ath 6·59)
(3) Anjan (Ath 19·44)
(4) Arjuna (Ath 2·8·3)
(5) Ashvatath (Ath 3 6·5)
(6) Asikni (Ath 1·23·1)
(7) Audumbara (Ath 19·31·2)
(8) Kushtha (Ath 5·4·9 & 18·39·4)
(9) Kesavardhini (Ath 6·21·3)
(10) Karmbha (Ath 4·7·3)
(11) Kalyani (Ath 5·17·12)
(12) Kanda Visa (Ath 10·4·22)

(13) Gandhari (Ath 5 22·14)
(14) Gulgulu (Ath 2 36 7)
(15) Tatha (Ath 5·4·9)
(16) Tabuka (Ath 5·13·10)
(17) Tilapinjya (Ath 2.8 3)
(18) Dasavrksa (Ath. 2.9.1)
(19) Darbha Grass (Ath. 10.4.2)
(20) Najharisa (Ath. 8.2.6)
(21) Naladi (Ath. 4.37.3)
(22) Pata (Ath. 2.27.4)
(23) Pippali (Ath. 6.109.1)
(24) Prsnipani (Ath. 2.25.3)
(25) Paramandani (Ath. 4 37.3)
(26) Bhurimuda darbha (Ath. 6.43.2)
(27) Madhula (Ath. 5.15.5)
(28) Magadha (Ath. 5 22.14)
(29) Madhumatmasya (Ath. 7 58.2)
(30) Munidevamula (Ath. 7.78.1)
(31) Yavapali (Ath. 8.6 2)
(32) Rama (Ath. 1.23.1)
(33) Ropanaka (Ath. 1.22.4)
(34) Rohani (Ath. 4.12 1)
(35) Laksa (Ath. 5.5.7)
(36) Vacas (Ath. 8.7.7)
(37) Visvarupa (Ath. 4.34.8)
(38) Verma (Ath. 10.3.7)
(39) Sahadevi (Ath. 12.4.25)
(40) Soma (Rig. Mandla 9)
(41) Sahasraparni (Ath. 6.13.9)
(42) Haridrava (Ath. 1.22.4)

Veterinary :

Like the treatment of human beings the vedas also deal with the treatment of diseases with which animals are afflicted.

अपक्रीता सहीयसीर्वीरुधा या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥

(Ath 8 7·11)

Let the plants of medicine which are praised for them efficacy, which have conquering effect be rescued and purchased for curing horses, men and animals etc.

The whole hymn 59 of 6th Kanda of Atharvveda deals with the treatment of diseases of animals and with the relevant medicinal plants.

Hospital or Sanatorium :

The establishment of medical colleges or hospitals is not a new concept of modern age but the idea has been initially deried from vedas.

सर्वो वै तत्र जीवति गोरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥

(Ath 8·2·25)

All living beings including cows, horses, men and animals stay there where the vedic teachings are imparted and where there are arrangements for fortifying from diseases and adequate arrangements for leading a life happily without infection etc.

—Inder Dev Khosla, Advocate
Arya Vanprasth Ashram, Jwalapur

———

माघ काव्य में सामाजिक जीवन

शिशुपाल वध में सामाजिक जीवन का अध्ययन करने पर तत्कालीन समाज में व्याप्त निम्नलिखित धारणायें, मान्यतायें, प्रथाएँ तथा रीति-रिवाज स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं - वर्णव्यवस्था, अतिथि सत्कार, यज्ञ की प्रधानता, शिक्षा, अवतारवाद, पुनर्जन्म में विश्वास, विवाह, सतीप्रथा, अपशकुन (अन्धविश्वास), रोगोपचार, व्यवसाय, रहन-सहन एवं वेशभूषा आदि।

वर्ण व्यवस्था :-

उस समय समाज में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। ब्राह्मण व क्षत्रिय को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। ब्राह्मणों का प्रमुख कर्म यज्ञों का सम्पादन करना था, यज्ञ सम्पादनार्थ ब्राह्मणों को यथेष्ट दान-दक्षिणा दी जाती थी।[1]

दक्षिणीयमवगम्य पंक्तिशः पङ्क्तिपावनमथ द्विजव्रजम्।

दक्षिणः क्षितिपतिर्व्यशिश्रणद्दक्षिणाः सदसि राजसूयकीः॥

वाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से समाज की रक्षा करना क्षत्रियों का कार्य था। युद्ध से न भागना[2], दान देना[3], प्रजा की रक्षा करना[4], युद्ध करते-करते मृत्यु हो जाए तो गर्व करना[5], क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म थे। वैश्य व्यापार का कार्य करते थे। व्यापार के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते तथा कुछ चलती-फिरती दुकानें भी लगाते थे।[6] यह वर्ग अत्यन्त धनी था।

1- १४/३३ पृ० सं० ५२६
"शिशुपालवधम्" म० श्री मल्लिनाथ कृत "सर्वङ्कषा व्याख्या यूर्त "मणिप्रथा" नामक हिन्दी टीका सहितम्
प० श्री हरगोविन्द शास्त्री (चौखम्बा प्रकाशन-१९६१)
(ब) एक एव वसुयद्ददौ नृपस्तत्समापकमतर्क्यंत क्रतोः।
त्यागशालिनि तपः सुते ययुः सर्वपार्थिवदनान्यपि क्षयम्॥ १४/४०

2- आत्मीयास्ते ये पराञ्चः पुरस्तादश्यावर्ती संमुखोयः परोऽसौ॥ १८/१८ पृ०सं० ६९५
(ब) १८/३९ पृ०सं० ७०३

3- पूर्वोक्तः - १४/३३ पृ०सं० ५२६, १४/४० पृ० सं० ५२८

4- यतु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोतिमाम् २/११ पृ०सं० ५४, १/४० पृ०सं० २५

5- गत्वा नूनं वैबुध सद्मरम्यं मूर्च्छाभाजा माजगामान्तरात्मा।
भूयो दृष्टप्रत्यया. प्राप्तसंज्ञाः साधीयस्ते यद्रणायाद्रियन्ते॥ १८/६३ पृ०सं० ७१३

6- ५/११ पृ० सं० १५२ (ब) ५/२४ पृ०सं० १९६

"वैदिक सोम का महत्व"

लेखक- डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
मौ० चाकलान, ज्वालापुर, हरिद्वार

वेद भारतीय संस्कृति के मूल-स्रोत के साथ ही ज्ञान एवं विज्ञान के भी मूल स्रोत माने जाते हैं। भारतीय इतिहास में वेदों को हमारी सभ्यता और संस्कृति के उद्भावक होने का गौरव प्राप्त होने के साथ ही उनका स्थान पूजनीय एवं वन्दनीय माना गया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक भी इन्हें सदाचार, धर्म, सभ्यता और संस्कृति रूपी ज्ञान स्रोत के उद्गम-स्थल माने जाते आ रहे हैं। वेद वस्तुत: भारतीय ही नहीं अपितु मानव मात्र के ज्ञान चक्षु है। वेद स्वत: प्रमाण तो हैं ही साथ में अन्य सत्य शास्त्रों का प्रमाण भूत स्वयं वेद हैं। समस्त सत्य विधाओं के जनक तथा सकलान्य ज्ञान विज्ञान के उदभावक भी ये ही हैं। इसी लिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा-

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रंहि विद्यते।
निस्सृतं सर्व शास्त्र तु वेद शास्त्रात्सनातनात् ॥

इन वेदों को विद्वानों ने बहुत आहार दिया। उन्होंने तो वेद का विरोध करने वाले को नास्तिक तक की संज्ञा प्रदान कर दी -

नागरिको वेद निन्दक: ।।मनु० १।१ ।।

समस्त वैदिक साहित्य में स्मृतियों और पुराणों में इनकी पद पद पर प्रशंसा की गयी हैं। महर्षि मनु तो वेदों को पितृगण देवता और मनुष्यों का सनातन चक्षु घोषित करते हैं। संसारस्थ पदार्थों को जानने के लिये जिस प्रकार इन चर्म चक्षुओं की महती आवश्यकता होती है। बिना इनके लोकस्थ पदार्थों का ज्ञानकदापि नहीं हो सकता है। उसी प्रकार अलौकिक तत्वों को जानने के लिए वेद रूपी चक्षु आवश्यक है। —

पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षु: सनातनम्
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रनिति स्थिति ।।म०नु१२ ।९४।।

इन्हीं अपरिहार्य कारणों से हमारे शास्त्रकारों ने वेदों का स्वाध्याय अपरिहार्य अंग स्वीकार किया है। शतपथकार में वेद के स्वाध्याय की ओर-प्रेरित करते हुये कहा हैं

कि धन धान्य से परिपूर्ण भूमि के दान से जो फल, दाता को प्राप्त होता है। उससे भी अधिक फल वेद का स्वाध्याय करने मात्र से अध्येता प्राप्त कर लेता है। —

यावन्तं ह इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णांददल्लोकं जयतिस्त्रिभिस्तावत् जयति भूयांसं च अक्षय्यं च य सर्वं विद्वान अहरहः स्वाध्यायमधीतेतस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ श० ब्रा० ११।५।६।१॥ इस वेद स्वाध्याय परम्परा के अन्तर्गत जब हम प्रवेश करते हैं तब बहुशः इस प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति अध्येता के समक्ष उपस्थित होती है। कि वह कदाचित् उसकी उहापोह में ही खो जाता है। इस पुनरावृत्ति की परम्परा में आज सोम पर ही कुछ दृष्टि पात करते हैं। यद्यपि सोम को विद्वानों ने बहुत रूपों में देखा हैं। उणादि कोष में सोम को कपूर और चन्द्रमा के नाम से पढा गया है।

सवत्यर्यैश्वर्यं हेतुर्भवतति सोमः कर्पूरश्चन्द्रमा वा ॥ १।२।६० ॥
श्री अमर सिंह ने अपने कोष में सोम को चन्द्रमा के रूप में कहा है- अब्जोजैवातृक सोमोग्लौमृगाङ्कः कलानिधिः ॥१।३।१४॥ नर्मदा नदी के नाम गिनाते हुए उसे सोमोद्भवां (सोम से— उत्पन्न होने वाली) कहा है —

रेवातु नर्मदा सोमोद्भवा मेकल कन्यका ॥१।१०/३२॥
वैदिक परम्परा में सोम से अनेक प्रकार के यज्ञ होते थे। उस यज्ञ में सोम को एक लता के रूप में स्वीकार किया जाता था। जिसके रस का पान यजमान—दम्पति किया करते थे और यथेच्छ फल प्राप्ति किया करते थे। इसलिए उस दम्पत्ति को सोमपीथी और सोमय नामों से पुकारा जाता था—

सोमपीथो तु सोमपाः ॥अमरकोश २।७।६॥
भौतिक जगत में सोम को विद्वानों में अनेक रूपों में देखा है। किन्तु वेद में सोम को अत्यधिक रूप में परमात्मा ब्रह्मचारी और आचार्य के रूप में देखा गया है। यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय के विसवां मन्त्र में इस सोम को चवालीस वर्ष पर्यन्त विद्याऽध्ययन के साथ ब्रह्मचर्य व्रत पालक को रुद्र ब्रह्मचारी के नाम से पुकारता है —

सोमं रुद्रस्त्वावन्यर्तन्तु ॥ इति

अथर्ववेद का ऋषि इस सोम को आचार्य के रुप में देखकर ऋचा का गान कर रहा है—

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोमः ।।११/५/१/७।।
सोम को ऐश्वर्य सम्पन्न नाम से करते हुये इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जाती है—

सुवति ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमः षु प्रसवैश्वर्ययोः से सोम सिद्ध किया जाता है। जहां वेद में आनन्दमयकोश की सिद्धि हेतु चित्त को समाहित करने वाले साधनों के वर्णन के साथ समाधि का अभ्यास निरन्तर रुप से आवश्यक बताया है। वहीं उस स्थिति से लाभों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उपासक समाधि की अवस्था में पहुंचकर जब परमात्मा के सोम स्वरुप का सेवन करता है तब उसके आनन्दमयकोश के चारों ओर अहंकार तथा सूक्ष्म प्रकृति आदि बन्धन के कारण स्वतः क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। अन्य कोई साधन उसकी आत्मा को वैसा परिमल नहीं कर सकता है जैसा सर्वोत्पादक सोम स्वरुप परमात्मा करता है। वैदिक ऋचाओ में परमात्मा की इस सोम-स्वरुपाशक्ति काप्रतिपादन अनेकशः दृष्टिगोचर होता है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।।साम० १३०२
सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता।
आते रुचः पवमानस्य सोमः ।।ऋग ९/९६/२३,२४।।

संयम पूर्वक जब योगी आन्तरिक उपासना निरन्तर करता है तब उसकी उपलब्धि का सार सोम ही तो है—

प्रतेधारा अत्यण्वीनंमेष्यः पुमानस्थ संयतो यन्ति रंहयः।
यद् गोभिरिन्दोचम्वोः समन्यस आ सुवानः सोमकलशेषु सीदसि, ०९/८६/४७।।

जब उस योगी के हृदय में आनन्द की धाराओं का स्रोत अनवरत गति से प्रवाहित होता है तब कर्मो को जानने वाला सोम परमात्मा सर्वोपासनाओं के आधार एवं रक्षक, वरणीय पुरुष में प्रेमपूर्वक शान्ति स्थापित करता है, पवस्व सोम क्रतुवित्तः उक्थ्योवारे परिधाव मधु प्रियम् ।।०९/८६/४८।।

सोम का रुप इतना विशाल है कि उसको वेदों में बहुशः वर्णित किया है। सोम की महिमा का उच्चस्तरीय वर्णन सर्वत्र उपलब्ध होता है। सोम को जगदुत्पादक तथा

शुभ गुण प्रेरक परमात्मा के नाम से सम्बोधित किया गया है। सोम तो वस्तुतः प्रजाओं और शुभकर्मों में सुव्रत और सुकर्मा रूप से जगत में प्रसिद्ध हुआ है। यहां सर्वत्रव्यापक और सब कुछ जानने वाला होकर अपनी दक्षताओं (बलों) के कारण सुदक्ष (अतिकुशल) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सुख धन, विद्या और शान्ति को वह सतत रुप से वर्षाता रहता है। इसीलिए ये लोकवासी उसे सुखवर्षक नाम से जानते हैं। साथ ही वह सोम संसारस्थ समस्त मानवों के हृदयों को जानता है। इसीलिये यश: अन्न और धनों से स्वयं तेजस्वी यशस्वी अन्नवान् धनी हुआ है—

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूः त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः ॥१/६१/२॥

वह सदा वर्षणशील सोम हमारे ऊपर निरन्तर सुखों की वर्षा कर रहा है। वह जो कुछ भी करता है सब सुक्रतु रुप ही है। इसका किया हुआ कर्म कदापि अशुभता में परिवर्तित नहीं होता है। निरन्तर रुप से प्रत्येक कर्म में वह सुदक्षता अपनाये बैठा है। कुशलता सुदक्षता में परिवर्तन हो रही है। मनुष्य के पास कुशलता तो है किन्तु यह कुशलता तभी सुदक्षता का रुप धारण कर सकती है जब मानव विश्व वेदा हो जाये। विश्ववेदा अर्थात् सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होना मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर की बात है। विश्वस्मिन् विद्यते (विद् सत्तायाम्) से अथवा विश्वं न वेत्ति (विद् ज्ञाने) से विश्व वेदाः शब्द सिद्ध होता है। जो विश्व में व्यापक हो जाये अथवा जो इस विश्व को जाने–दोनों अर्थों के होने पर ही विश्ववेदाः बन सकता है। ये दोनों गुण मानव की पहुंच से दूर की वस्तुएं हैं। जब पहुंच से दूर है तो मानव सुदक्ष कैसे बन सकता है फिर तो मानव को अपनी नियत शक्ति कुशलता में ही निर्वाह करना पड़ता है। मानव प्रत्येक कर्म को करने से पूर्व उसमें अपनी कुशलता का प्रयोग कर उसके परिणाम का ध्यान करता है। किन्तु कभी–कभी उसकी इस कुशलता का परिणाम बहुत विपरीत निकलता है। जिसको वह कभी सोच नहीं रहा था, वही परिणाम उसके समक्ष उपस्थित हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण कुशलता का दावा एक क्षण मात्र में गुड–गोबर होकर रह जा है। वह अपने को कोसता है

उसके समस्त प्रयास काम नहीं देते और वह छटपटाता हुआ आंसू बहाता रहता है। कभी-कभी असह्य स्थिति में वह आत्महत्या पर भी तुल जाता है। किन्तु उस सोम प्रभु की कुशलता में कभी भी सुदक्षता की कमी नहीं आती है। वह जिसको रचता है उसे देखकर वह ही नहीं अपितु लोक लोकान्तरों के प्राणी अपने - अपने आनन्दातिरेक में डूबने लगते है। सृष्टि की रचना करके वृक्ष, पत्ते, फल, फूल आदि की सुन्दरता और परिणाम पर प्रत्येक आस्तिक और नास्तिक मोहित हो रहा है जन्म और मृत्यु की सृष्टि रचकर उसके परिणाम से भी समाज हैरान है। वह राजा को रंक और रंक को राजा बनाने में क्षण भी भी देरी नहीं करता है। तब आध्यात्मवादी जन उसकी वाह-वाह कर उठते हैं। क्योंकि वह सोम जो कर रहा हैं, वह सब भोक्ता के कर्म का ही फल मात्र है। उसके यहां से फल-प्राप्ति मे न देर है न अन्धेर ही है। वह तो तत्काल कालानुसार कार्य की सम्पन्नता प्रदान करता है। अतः वह सुदक्ष है विश्ववेदा हैं।

निरन्तर वर्षा करने के कारण वह वर्षक बना हुआ है। उसकी यह सुख शान्ति धन और ऐश्वर्य की वर्षा सभी के लिये है। सूर्य की धूप, चन्द्रमा की शीतलता, वायु का प्रवाह, नदियों के स्रोत, पृथिवी की गन्ध, अग्नि की उष्णता, सायँकाल की शान्ति, ब्रह्म मुहूर्त की गम्भीरता, वेद का ज्ञान, पुण्य का फल-सुख, पाप का फल दुख औषधियों की शक्ति, और पक्षियों का मधुर संगीत-धनी और निर्धन, राजा और रंक, छोटा और बड़ा, गोरा तथा काला, मूर्ख तथा विद्वान्, शक्त तथा अशक्त, पापात्मा तथा पुण्यात्मा, देवात्मा तथा अन्त्यज, एवं मौनी और बडभाषी-सभी के लिए समान रुप से अपना - अपना गुण प्रसारित कर रहे हैं। किसी को कम या अधिक होना उसके दरबार में यह अन्याय नहीं हैं। वह तो सतत प्रवाह से सभी को वर्षा रुप में धाराओं की गति से प्रदान कर रहा है। इस वर्षा को वह अहर्निश कर रहा है, करता आ रहा है। उसके करने का कोई काल भी तो नहीं है। कोई अन्तिम घड़ी का क्षण भी नहीं है। अतः वह वर्षक है। ग्रहण करने की क्षमता मनुष्य के ऊपर है कि वह कितना अपने पात्र में उड़ेलता है। मनुष्य जब कुछ बांटता है तो कुछ ही लोगों को उसकी

फल प्राप्ति होती है। किन्तु उस सोम की वर्षणशीलता सभी को प्रतिक्षण प्रत्येक स्थान पर ऐश्वर्य से भरपूर कर रही है। यही तो उसकी महनीयता है। अपनी इसी महनीयता ने उसने अपना नाम सोमवर्षा रखा है। वह तो वृषु सींचने धातु से निष्पन्न होकर सींचने का कार्य अबाध गति से निःशंकता के साथ कर रहा है। आचार्य सायण उसी को ही—

"वृषा कामनां वर्षिता महांश्च"

अर्थात् जो उत्तमोत्तम कामनाओं का वर्षक है और महान् भी है, ऐसा सोम वर्षक कहा है। वर्षक बनकर सोम हमारे घर पर सभी प्रकार के धनैश्वर्यो की वृष्टि कर रहा है।

वह सोम ऐसा महान् है कि प्रत्येक मनुष्य के कर्म को देख रहा है। मनुष्य कहीं भी छिपकर कुछ कर्म करे वह सोम तो नृचक्षा बनकर उसे साक्षात् रूप से निहार रहा है। "चष्टे पश्यति" धातु यही इशारा हमें कर रही है। जिससे कि नृचक्षा शब्द सिद्धि को प्राप्त हो रहा है। जब वह सोम नृचक्षा बन जाता है। तब तेज, यश अन्न और धन को यथोचित रूप से मानव कृत क्रमानुसार प्रदान करता है। वह जानता है कि अमुक मनुष्य का यह कर्म है। अतः इसे इस मात्रा में धन, तेज, यश और अन्न देना चाहिए। मनुष्य नृचक्षा कदापि नहीं हो सकता है। अतः मनुष्य द्वारा प्रदत्त पद्दी पुरस्कार अथवा दण्ड पूर्ण रूप से ही उचित हो यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि मनुष्य ने तो दण्ड धारक अथवा फलधारक के मात्र कुछ ही कर्मों को मात्र स्थूल नयनों से देखा है। जिनको देखकर वह स्वयं गद्-गद् हो गया है। किन्तु उस नृचक्षा सोम ने तो मनुष्य की प्रत्येक क्रिया को क्षण–प्रतिक्षण निहारा है। अतः उसकी न्याय व्यवस्था में कदापि दोष नहीं आ सकता है। वह सोम मनुष्य के विचारों को, चिन्तन को, मनन को और ज्ञान को नृचक्षा बनकर देख रहा है। इसलिए वह न्यायकारी

होने से तेजस्वी, यशस्वी, अन्नवान् और धनवान् स्वयं बना है। उसका तेज कदापि निःतेज नहीं होता है। उसका बल कदापि दुर्बलता में परिवर्तित नहीं होता है। उसका यश कभी भी अपयश का भागी नहीं बनता है और उसका धन निर्धनता का रुप नहीं लेता है। वह स्वयं में इन द्युम्नों से परिपूर्ण होकर अन्यों को भी भरपेट द्युम्न दे रहा है। वह तो पूर्ण है इसका सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूर्ण है। उस पूर्ण से यह सारा पूर्ण ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है और उस पूर्ण से यदि सारा कुछ निकालने की कोशिश भी की जाये वह तब भी पूर्ण ही बना रहेगा। यही तो उसकी परिपूर्णता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णं मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस प्रकार वेद में उस आध्यात्मिक सोम रुपी प्रभु की सर्वत्र चर्चा की गई है। वस्तुतः वह सोम परम शक्तिमान् परमात्मा ही है जो चराचर का स्वामी और सर्वशक्तिमान् है। जिसका सामर्थ्य अनन्त है। सुमित्रः सोम न भव—कहकर ऋग्वेद प्रथम मण्डल के इक्यानवे सूक्त का बारहवां मन्त्रांश हमें उसी सोम को मित्र बनाने की ओर निरन्तर निर्देश दे रहा है। उस का सामर्थ्य तो अनन्त है। उस सोम की शक्ति अद्भुत है। वह सोम चन्द्रमा के समान हमारी वृद्धि और पुष्टि का कर्ता है। वह सोम हमारे घर में, सन्तान में धन में, और प्राण में पुष्टि को करता है। वह निरन्तर रुप से समस्त मानवों को अविद्यादि दोषों से दूर करया है। आत्मानन्द को अहर्निश प्रदान करता जा रहा है। और समस्त ऐश्वर्यों का प्रदाता वही सोम प्रभु है। हम उस सोम रुपी प्रभु के अनन्त सामर्थ्य को जानें, उसी की शान्तिप्रद शरण में अपने को समर्पित करें तो हमें भी सुख और शान्ति का मार्ग प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं—
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥इतिशम्॥

अवतारवाद

लेखक—कौशलेन्द्र प्रपन्न
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

अवतार शब्द "अव" उपसर्ग पूर्वक "तृ" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है उतरना। अवतार शब्द का प्रयोग परमात्मा में सर्वव्यापक रूप में नहीं घटता। अतः उतर तो वह सकता है जो कहीं स्थान विशेष पर सिंहासन पर बैठा हो। उतर तो वही सकता है जो ऊपर हो, नीचे न हो।

जो सर्वव्यापक है, अणु—अणु, कण—कण में विद्यमान है, वह किस स्थान से किस स्थान पर उतरेगा ? अतः उसका अवतार कैसा ? यजुर्वेद में कहा गया है कि— 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषि परिभूः स्वयंभू र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ………यजु० ४०/८॥

वह परमेश्वर सर्वव्यापक, शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान, (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीर से रहित, छिद्र रहित, नस—नाड़ियों के बन्धन से परे, पवित्र, शुद्ध, निष्पाप, क्रांतदर्शी, सर्वज्ञ, सब जीवों के मनोभावों को जानने वाला, दुष्ट और पापियों का तिरस्कार करने वाला तथा सब के ऊपर विराजमान है। वह स्वयम्भू अनादि स्वरूप है तथा अपनी सनातन प्रजा के लिये यथार्थ सब पदार्थों को रचता हैं।…कठोपनिषद् २/२२

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्यनाम महद्यशः।"………यजु०

दर्शन शास्त्र ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि "क्लेश कर्म विपाकाशयैर— परामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः।

अविद्या आदि पांच क्लेशों, कर्मफल और वासनाओं के संसर्ग से रहित पुरुष विशेष ईश्वर होता है। इस लक्षण से सिद्ध होता है कि ईश्वर देहधारी नहीं हो सकता क्योंकि यह सब बातें देहधारी में ही होती हैं।

हमारे पौराणिक बंधुओं का ऐसा कहना है कि जब—जब धर्म की हानि हुई है तब—तब ईश्वर अवतार लेकर पृथ्वी पर आता है और धर्म को नष्ट होने से बचाता है। भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय में भी कहा गया है कि:—

गुरुकुल पत्रिका
मासिक शोध पत्रिका

अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर · 1993

वेदों में कुण्डलिनी शक्ति

—कु० बृजबाला भक्त
ज्वालापुर

यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति के द्वारा ही देशकाल के अन्तर्गत सब कुछ विद्यमान है। विश्वजगत की व्यक्तावस्था के पूर्व की अवस्था का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार है—"प्रलयकाल में मृत्यु न थी, सूर्य और चन्द्रमा के अभाव के कारण तब दिवा-रात्रि का ज्ञान न था, तब सर्व वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मतत्व प्राणितवत् ही विद्यमान था।" प्राणितवत्" कहने से लोग निरुपाधि ब्रह्म को जीव भावापन्न जीववत् क्रियाविशिष्ट सोच सकते हैं। इसी आंशका से वेद ने "अवातन् पद का प्रयोग किया है। उस समय (सत्व, रज और तम) त्रिगुणात्मक प्रकृति का माया अपने आधार ब्रह्म के साथ अविभागापन्न होकर साम्यावस्था में विद्यमान थी, तब क्रियाशील रजोगुण की अनभिव्यक्ति के कारण किसी प्रकार की क्रिया नहीं थी।"[1] वेद हमारे प्राचीनतम् ग्रन्थ माने जाते हैं, परन्तु वेद भी इस ब्रह्म शक्ति से बाहर के नहीं हो सकते। अतः वेदों में शक्ति का स्थान प्रमुख है। वेद भी शक्ति की ही अभिव्यक्ति हैं जिन्हें हम ईश्वरीय ज्ञान कहते है। वह समस्त ज्ञान इस ईश्वर की शक्ति द्वारा दिया गया ज्ञान हो है। अतः वेद भी इस शक्ति की ही देन है क्योंकि शक्ति ईश्वर से अभिन्न है। यह ईश्वर की ही माया है। इसलिए वेद ईश्वर की वाणी कहे जाने के कारण शक्ति की ही अभिव्यक्ति हैं। इसलिए वेदों में आद्य शक्ति का वर्णन बीजरूप से विद्यमान है। उस वैदिक काल में शक्ति के रूप में पृथ्वी वा प्रकृति की उपासना का प्रचलन रहा है। सभी धर्म ग्रन्थों में अलग-अलग रूप में हमें व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से इस कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन प्राप्त होता है। तब वेद तो आदि हैं इनमें विशिष्ट कार्यों की सिद्धि के लिए शक्ति चतुर्वेद का रूप धारण करती है। प्रकृति के तीन रूप हैं। चतुर्थ अवस्था साम्यावस्था है। वेद की भी चार अवस्थाएँ हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। सभी

१—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न राव्या अहन् आसीत प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥

ऋ० वे० सू० १२६/१०/२

धर्मग्रन्थों में वेद प्रमुख हैं और चारों वेदों में ऋग्वेद का प्रमुख स्थान है क्योंकि ऋग्वेद न रहने पर किसी भी वेद की स्थिति नहीं रहती है। सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद में अखण्डित बन्धन रहित सर्वव्यापिनी द्यौरन्तरिक्षा रूपा जननात्मिका आद्याशक्ति का चिन्मय ज्योति के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। उस पराम्बा (कुण्डलिनी शक्ति से अभिप्राय) ने वाक् (वागाम्भृणी) सूक्त में यह बताया है कि समस्त प्राणियों को मैं ही उत्पन्न करती हूँ। इसके लिए किसी की सहायता अपेक्षित नहीं। जिस तरह वायु किसी दूसरे की सहायता के बिना स्वयं ही बहती रहती है, उसी तरह मैं भी बिना किसी दूसरे की प्रेरणा के स्वेच्छा से सृष्टि रचना में प्रवृत्त होतीहूँ।"[1]

ऋग्वेद में शक्ति का वर्णन अदिति के रूप में ८० बार प्रयुक्त हुआ है। "वह अदिति (शक्ति) द्यौ अन्तरिक्ष है, वही माता-पिता-पुत्र, विश्वदेवा भी अदिति ही है, और यहाँ तक कि जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, वह अदिति ही है तथा भविष्य में भी जो कुछ होगा, वह भी अदिति ही है।"[2] अथर्ववेद की सांकल संहिता में इस पराशक्ति का वर्णन इस प्रकार है "उन अग्नि के से वर्ण वाली, ज्ञान से जगमगाने वाली दीप्तिमति, कर्मफल प्राप्ति के हेतु सेवन की जाने वाली दुर्गादेवी की हम शरण में हैं। असुरों का नाश करने वाली देवी तुम्हें नमस्कार है।"[3] ऋग्वेद में ही एक जगह शक्ति को सीता के रूप में बताया है कि "हे असुरों का नाश करने वाली श्री सीते! हम सब आपके चरणों की वन्दना करते हैं, आप हमारा कल्याण करें।"[4] इस आद्या शक्ति से ही सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।"[5] इसका प्रमाण ऋग्वेद के ही देवी सूक्त में इस प्रकार है।—"मैं आद्याप्रकृति रूद्र तथा ब्रह्मा जी की सृष्टि करती हूँ।"[6] मैं शत्रुहन्ता सोम को, विश्वकर्मा को, सूर्य को और षडैश्वर्यशाली देवों को धारण करती हूँ। जो (मनुष्यों) देवों के उद्देश्यों से प्रचुरअवियुक्त सोमयागादि का अनुष्ठान करते हैं, उन यजमानों

१—अहमेव वात इव प्रवाम्यारभ्रमरणा भुवनानि विश्वा। ऋ १०/१२५/८
अहं सुवे। (ऋ० १०/१२५/७)

२—अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षम, मदिनिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पन्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
ऋ— १/८९/१०

३ तामग्निवर्णा तपसा ज्वलन्ती वैरोचनी कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गा देवी शरणमहं प्रपद्ये, सुतरसि तरसे नमः सुतरसि तरसे नमः॥
(अथर्ववेद सांकल संहिता) १०/१२७/१२)

४—अवीची खुभंगे भव सीते। वन्दामहेत्वा।
यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलासति। (ऋ० ३/८/९)

५—हिरण्यगर्भः समवर्ततागे········(ऋ० १०/१२१/१) यजुर्वेदमाध्वन्दिनी १३/४

६—यं कामयेत तुमुग्रं कृणोमितं ब्रह्माणम् तमृषिथ सुमेधार। (ऋ० १०/१२५/५)

प्रकारों को धारण करती हुई अन्तरिक्ष में व्याप्त यह दैवी वाणी गौरी स्वरूपा है।"[1] पापों का शोधन करने वाली वेदमाता हम द्विजों को प्रेरणा दे। मनोरथों को परिपूर्ण करने वाली वेदमाता की आज हमने स्तुति की है। मनोअभिलाषित वर प्रदात्री यज्ञ माता हमें दीर्घायु, प्राणवान्, प्रजावान् पशुमान्, धनवान्, तेजस्वी तथा कीर्तिशाली होने का आशीर्वाद देकर ही ब्रह्मलोक को पधारें।"[2]

१—गौरीर्भिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभवुषी सहस्त्राक्षसरा परमे व्योमन् ॥
(ऋ० सं० १/१६४/४१)

२—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ (अथर्व कां० १९/५७१/१)

वैदिकवनस्पतिः सोमः

—डा० बलवीर आचार्यः
संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक हरयाणा

भारतीयमनीषिभिः स्वदीर्घकालीनान्वेषणसाधनया विभिन्न गुणसमन्वितानां वनस्पतीनां याथातथ्यतो विवेचनमायुर्वेदीयचरकसुश्रुतसंहितादिषु ग्रंथेषु प्रतिपादितमस्ति तद्वैज्ञानिकं विवेचनमाधुनिकीं सर्वसाधनसम्पन्नामनुसन्धानपद्धतिमपि तिरस्करोति । यदि सा पुरातन्यनुसन्धानपरम्परा उत्तरोत्तरं वृद्धिं प्राप्नुयात तर्हि सम्प्रत्यपि भारतवर्षस्य चिकित्सायामपूर्वमेव स्थानं भवेत् । परं दुःखास्पदमिदं यदन्वेषिज्ज्ञानस्य वृद्धिस्तु दूरङ्गता, यदस्ति तदपि वयं विस्मरामः । सम्प्रति तु ईदृशीदुरावस्था यद्वयमायुर्वेदीयग्रंथेषु वर्णितवनस्पतीनां परिज्ञानेऽप्यसमर्था तासां विविधासु व्याधिषु उपयोगस्य तु का कथा ? एतादृशीष्वज्ञातवनस्पतिष्वेको वनस्पतिवेको वनस्पतिः सोम इति नाम्ना प्रसिद्धः तस्यैव विवेचनमत्र क्रियते ।

निखिलेऽपि वैदिकसाहित्ये सोमस्य विस्तरेण वर्णनं विद्यते । सोमरसं पायं पायं वैदिकऋषयो देवाश्च किमप्यपूर्वं सुखबलमोदानुभवन्ति स्म । तस्मिन् काले सोमस्य मुख्यतया द्वे रूपे आस्ताम् । दिव्यं पार्थिवञ्च ॥

सोमस्य दिव्यं रूपम् :—

ब्राह्मणग्रंथेषु प्रतिपादितमस्ति । यत्सोमो दिव्यं पार्थिवञ्चास्ति दिव्यः सोमः देवविशेषेऽस्ति । अस्यावासं गन्धर्वान् समयाऽस्ति ।[1] युद्धकाले देवाः सोमं राजपदेनालंकृत्य असुरान् तिरस्कृत्य विजयमलभन्त ।[2] शरीरे प्राण इव सोमस्य यज्ञे महत्त्वमस्ति । अतः सोमः प्राण इत्युक्तम् ।[3] दिव्यरूपात्मकोऽयं सोमः प्रतीकात्मकोऽस्ति आनन्दस्य सर्जकत्वात्सोमो यशः चन्द्रमा क्षत्रं इत्यभिधीयते । द्विव्यरूपेण वर्णितः सोमो ब्रह्माण्डे व्यापकं महत्त्वपूर्णं तत्त्वमस्ति, यस्मिन्नमरत्वप्रकाशे गुणेस्तः ।

नाग्नि न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च ।
तस्यायुः क्षपणे समर्थानि भवन्ति हि ॥

भद्राणां षष्टि वर्षाणां प्रस्तुतानामनेकधा ।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधि गच्छति ॥

क्षीरोदकं शक्रं सदनमुत्तरांश्चकुरूनपि ।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रति हता गति ॥

कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः ।
प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युति ॥

साङ्गोपाङ्गाश्च निखिलान् वेदान् विन्दतितत्त्वतः ।
चरत्यमोघ संकल्पो देव वच्चाखिलं जगत् ।[19]

आधुनिकमनुसंधानम् :—

प्राचीनभारतीये साहित्ये सोमलताया विशिष्ट गुणगणगरिम्णायुक्तं वर्णनमधीत्या-धुनिका अन्वेषकाः सोमलतायै प्राप्तयेऽभिलषन्ति यतन्ते च, स्वकीय अन्वेषणानुसारेण विभिन्नान् वनस्पतीन् सोम इति प्रतिपादयन्ति । येन सम्प्रति शताधिका वनस्पतयः सोमत्वेनाधिक्रियन्ते ।

सोमलतायाः सुव्यवस्थितानुसन्धानस्य प्रयत्नोऽद्यतो द्विशत संवत्सर पूर्वं तदाऽभवत् । यदा चतुराशीत्यधिकसप्तदशशततमे (१७८४ ई०) खीष्टाब्दे आङ्गलभाषायामनूदितां श्रीमद्भगवद्गीतां यूरोपदेशीया प्रापुः । ते सोमलताया गुणानां वर्णनमधीत्य तस्याः प्राप्तये प्रयत्नशीला बभूवुः । सोमलताया जिज्ञासा आंग्लदेशवासिनामति तीव्राभवत् । तत्रत्यैः शासकैभीरते कार्य सम्पादय-मानाः स्व कर्म कर्त्तारः सोमलतान्वेषणाय निर्दिष्टा । रासवर्गमहोदय मुख्यत्वेन सोमलतान्वेषणार्थं अधिकृतः । तेनै चतुर्दशाधिकाष्टादशशततमें (१८१४ ई०) खीष्टाब्दे यो वनस्पतिः सोमत्वेनऽन्वेषित सःसद्दाव इति नाम्न आसीत् । परं परीक्षायां सः "सोमत्वेन" नाधिकृतः । अनन्तरं "रासवर्गमहोदयेन" विशंत्युत्तराष्टादशशततमे खीष्टाब्दे (१८२०) प्रतिपादितं यत् "सारकेष्टोम्मा वरेविष्टेग्मा डबल्यु एण्ड ए" सोमलताऽस्ति । एवं सोमलताया अन्वेषणपरम्परा उत्तरोत्तरं वर्धते । येषु वनस्पतिषु वैदिक साहित्ये वर्णित सोमलताया गुणसाम्यं बाहुल्येनोपलभते ते वनस्पतयः शताधिकाः सन्ति तेसांञ्च सर्वेषामनुसन्धानममेरीकाभारतचीन - त्रि - विष्टपादिषुदेशेषु सम्प्रति भवति । चीनदेशे प्राप्यमाणागिनसेंग नामक वनौषधिः पैनेक्स शेनशुंग जरालिसेसीकुल सोमलतायाः वर्णितैर्गुणैरुपेताऽस्ति । तत्र सा चिकित्सायामुपयुज्यते अमेरिकायामेषा स्वर्णमिव मूल्यं

बिभर्ति । एषाऽऽयुः पौरुषन्वञ्च वर्धयति, अर्बुदं (कैंसररोगं) निराकरोति । सहस्रशः जनाः अस्याः प्रयोगेण लाभान्विता सञ्जाता । चीनामेरिकायामुत्तरकोरियायाञ्चोपलभ्यत ऐषा वनौषधिः ।

डा० जयन्तीलालठक्करकृष्णचन्द्रविग्रामागराभ्यां गुजरातप्रान्तान्तगत ओखामण्डले एकालतामुलूखलञ्च प्राप्नोत् । तौ विश्वसत यल्लता सोमलता, एवमुलूखलानि सोमरस निष्पादनोपकरणानि सन्ति । एषां सचित्रं विवर्णनमशीत्युत्तरएकोनविंशतिशततमस्य ख्रीष्टाब्दस्यदिसम्बरमासस्यविंशतितिथेः साप्ताहिकधर्मयुगनाम्नीपत्रिकायामस्ति । अस्या लतायाः परीक्षणं छाजन-कुष्ठादिषु रोगेषु साफल्येनाभवत् ।

डा० जयन्तीलालेन स्वयमपि परीक्षिता एषा लता । तस्य प्रयोगानुसारेण कतिपयैरेवो होभिः सोऽनुभवत् यत् सप्तति वर्षेऽपि स आत्मानं पञ्चाशत् वर्षीयोऽनुभवत् । तस्य पादयोः पीडाऽपि दूरीभूता । अस्यां लतायां विषये तस्य मतमस्तियद्वैदिक काले यासु परिस्थितिसु येन विधिना सोमरसमपिवन् तास्वेव परिस्थितिषु तेनैव विधिना अस्या लतायाः रसपानः क्रियेत् तर्हि तथैव गुण-लाभो भविष्यति तथा वैदिकसाहित्ये वर्णितमस्ति ।

आशास्महे यल्लघुनैव कालेन सामादिषयकमनुसन्धानं सफलं भविष्यति । विलुप्तं दिव्यमौषधञ्चाविर्भविष्यति ।

१—ऐतरेय ब्राह्मण ५.१ ॥

२—कौषीतकि ब्राह्मण ६.१० ॥

३—वही ९.७ ॥

४—यजुर्वेद १९.३३ दयानन्द भाष्य ।

५—सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थानम् अध्याय २९ ।

६—सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पंच च
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ।
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तथा ।
शुक्लस्य पौर्णमास्यं तु भवेत् पञ्चदशच्छदः ॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे-दिवसे पुनः ।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला । सुश्रुत संहिता चिकित्सा अध्याय ।

७—सोमां ब्राह्मणानां स भक्ष्य । ऐतरेय ब्राह्मण ३५.१ ।

८—वही ३५.४ ॥

९—वही ५.१ ॥

१०—कौषीतकि ब्राह्मण ९.१० ।

११—ऐतरेय ब्राह्मण ३.१ ॥

१२—ऐतरेय ब्राह्मण ३५.६ ।

१३—कौषीतकि ब्राह्मण १३.५.६ ॥

१४—ऋग्वेद ३.४२.८ ।

१५—वही ५.५१.७ ॥

१६—वही ३.४२.१ ॥

१७—वही ८.२.११ ॥

१८—सोमवल्ली त्रिदोषघ्नी कटुस्तिक्ता रसायनी ॥ भावप्रकाश निघण्टु गडूच्यादि वग ॥

१९—सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थानम् अध्याय २ ॥

105

गुरुकुल पत्रिका
मासिक शोध पत्रिका

अप्रैल-मई - 1990

21.11.90